THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182962
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 D99Y

Accession No. H 3554

Author त्रिस्फ परमेश्वर

Title युग-स्रष्टा-प्रेमचन्द

This book should be returned on or before the date last marked below

युग-स्रष्टा

प्रेमचन्द

: महाकाव्य :

परमेश्वर द्विरेफ

प्रथम संस्करण : ११००
[जनवरी, १९५९]

[सर्वाधिकार लेखकाधीन]

प्रकाशक : **भवानी बी० ए०**
श्री लच्छीराम केडिया का वास
चिड़ावा (राजस्थान)
मुख्य वितरक : **हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय**
पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी,
वाराणसी–१
मुद्रक : **नया संसार प्रेस**
भदैनी, वाराणसी
मूल्य : ५ रुपये

लोक-कल्याण

के लिये

समर्पित

आशीर्वाद

'द्विरेफ' की 'युगस्रष्टा' कृति मैंने पढ़ी। इस नवयुवक की उम्र कम होते हुए भी इसके अन्दर मनुष्यता और भावों का केन्द्र है। मुझे तो यह आशा है कि भविष्य में इससे बड़ी-बड़ी आशाएँ पूरी हो सकतीं हैं।

कलम बहुत से चलाते हैं मगर जिसके दिल के अन्दर चोट नहीं, दर्द नहीं, भाव नहीं, उसका कलम चलाना बेकार है; क्योंकि न तो वह अपने को ऊँचा उठा सकता है और न जन-समूह को कुछ दे सकता है।

ऊँची-ऊँची चीजें तो मैं सोचती हूँ कि कुछ चन्द आदमियों के लिये लिखी जाती हैं मगर जन-साधारण के लिये उसके दुःख-सुख की परिस्थितियों में मिलकर जो लिखता है वह वही लिख सकता है जिसमें मनुष्य के लिये चोटें हैं, दर्द है।

मैं समझती हूँ कि आगे चल कर यह तरुण कवि अपने जीवन में कुछ कर जायगा। मेरा इसके लिये यही आशीर्वाद है।

—शिवरानी प्रेमचंद

卐

अपनी दृष्टि में

'सत्येन रक्ष्यते धर्मो' के अनुसार 'युगस्रष्टा' सत्य-प्रिय है। धर्म के दस लक्षणों में 'सत्य' की भी गिनती है।

सांख्यकार ने पाञ्च भौतिक देह में आत्मा को स्थिर नहीं माना है--

नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा ..
स्थिरकार्यत्वासिद्धेः क्षणिकत्वम्......

और स्थिर कार्य की असिद्धि के कारण क्षणिक होना सिद्ध है। यही क्षणिकता परिवर्तन है, जिसे महाभारतकार ने 'काल' घोषित कर प्रमुखता दी है। हमारे यहाँ इसीलिये महाकाल को विभु मान कर उसकी पूजा की गयी है। उसी काल पर तो हमारी भूमि लट्टू की तरह घूम रही है। युगस्रष्टा इसी महाकाल का भक्त है। इस प्रकार 'नास्तिको वेद-निन्दक.' की परिधि मे वह सीमित नही किया जा सकेगा, क्योंकि वेद अर्थात् ज्ञान का वह निन्दक नही।

वेदों में तो मनुष्यों को सम्बोधित कर समान जल-स्थान, समान-अन्नभाग, एक कौटुम्बिक बन्धन, के समाज की कामनाएँ अनेकानेक ऋचाओं में अभिव्यक्त की गयी है--

"समानी प्रपा, सहवोऽन्नभाग, समाने योक्ते, सह वो युनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित."

काव्य-रचना के मूल कारण यश और अर्थ तथा व्यवहार-ज्ञान तो है ही, किन्तु 'अमंगल-नाश' जन-कल्याण (शिवेतर क्षतये) भी है --

'काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहार-विदे, शिवेतरक्षतये'।

हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में इस प्रकार की नयी वाणी का स्वागत नही होगा, ऐसा मानने का कोई आधार नही दिखायी दे रहा, क्योंकि 'ऋग्वेद' में नयी जिन्दगी के लिये, निश्चयपूर्वक नयी वाणियों के लिये, नयी पथ-मुक्ति के लिये अपनी दीप्तियाँ प्रकाशित करने के लिये सोम से याचना की गयी है।

'न नव्यसे नवीयसे मुक्ताय साधया पथः प्रत्नवद्रोचया रुचः।'

भाव, विषय और दर्शन आदि द्वारा अबतक के काव्यों से पृथक्कृत: 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' रचित उक्त रचना पता नही विद्वज्जनों को कैसी लगेगी ?

किन्तु, धरती पर रेखाओं द्वारा चित्रित इस प्रगतिशील सामाजिक यथार्थवादी काव्य द्वारा नयी जिन्दगी का आवाहन तो होगा ही, ऐसी धारणा किए बैठा हूँ ।

लेखकों के ग्रन्थों और मित्रों के सहयोग का आभारी भी हूँ ही ।

३० जून १९५२
द्विरेफ-भवन, चिड़ावा

——परमेश्वर द्विरेफ

卐

युगस्रष्टा

लपटें उठती थी लाल लाल
ज्यों जिह्वा-लोलुप व्याल-जाल
निर्गत ज्वाला के अञ्चल में
कर रही 'नसें थी चट्ट-चट्ट
उल्का की रौद्र पिपासा में
हो गये लुप्त थे मृतक-पट्ट
उद्घाटित, कृष्णायित कपाल
यों लगता था ज्यों क्रुद्ध काल

लक्कड़-खंडों का था जमाव
जिनकी लपटों में तीव्र ताव
वह चिता कठिन नौका सी थी
जिससे मिल जाता तीर, पार
करती रहती जो अट्टहास
सुन्दर तन को कर क्षार क्षार
भीषण थे उसके हाव - भाव
कर्कशतम था उसका स्वभाव

परितः विस्तृत थे भस्म-ढेर
कालानुसार थी हेर-फेर
कोई अति ही प्राचीन, जीर्ण
कोई ईषत् नूतन, नवीन
चंचल, हँसमुख, सौभाग्यवान्
कोई दुर्बल, असहाय, दीन
नव साथी को ज्यों रहे घेर,
दृग हारें जिनको हेर हेर

अत्यन्त शान्त ही था श्मशान
जैसे कोई कुछ हो न ध्यान
अविरल आते ही रहते हैं
किस किस का रक्खा जाय ध्यान
अबतक न यहाँ जाने कितने
ऐसे ही जन आये अजान

की नहीं जरा पहिचान, जान
जिनका स्मृतियों में भी न ज्ञान
यह आदिम युग से यों अशेष
जलता परिवर्तन - शून्य - वेश
निगले शत शत जन लक्ष कोटि
इसकी बुझ पायी पर न प्यास
लप लप करती ज्वालाओं की
जिह्वा में भीमाकार ग्रास
दुर्दम, अनन्त तृष्णा-प्रदेश
चिन्ता न व्यथा, मन में न ठेस

विस्तृत है इसका शून्य पेट
जिसमें अगणित ही गये लेट
प्रेमी, द्रोही, पंडित, गँवार
पापी, धर्मंधर, उदासीन
लघु, दीर्घ, शीर्ण, विस्तीर्ण सभी
ही एक नियम में हुए लीन
ली कभी किसी से कुछ न भेंट
सब की निश्चलता ली समेट

इसके मन में कुछ नहीं भेद
मानव ने ही रे, किन्तु खेद
कर दिया यहाँ भी ऊँच-नीच
वक्षस्थल पर धर दिया भार
विस्तृत समाधि है एक ओर
विच्छुरित दूसरी ओर क्षार
भावों का कर सम्बन्ध-छेद
भर दिये निम्न, ऊँचे विभेद

उस दग्ध चिता पर चिर प्रसुप्त
जो मानव था चेतना-लुप्त
उत्तुंग शृंग चट्टानों ने,
निर्झर का रोक दिया बहाव
दिवसों, मासों, वर्षों, युग के
चिन्तन ने उर में किये घाव
उनको रखना ही ठीक गुप्त
वह चिन्ता ही था लिये सुप्त

तन कंटक सा था रहा सूख
ज्यों मासो की हो तीव्र भूख
उसकी अभिलाषा भूखी थी
रूखे थे उनके मनोकाम
मंजुल सपने स्वर्णिम अपने
धारे थी कृशतम शुष्क चाम
यातना अरुण की सी मयख
मँडराई, जीवन गया सूख

कितने ही दिवसों से असार
था अम्बर च्युत सा निराधार
जो एक बार शय्या पकड़ी
वह फिर न कभी भी सका छोड़
उठना चाहा, छुटना चाहा
उसने अविरल जी तोड़ तोड़
पर कुछ भी पड़ पायी न पार
टूटे साँसों के शिथिल तार

उपचारों का सारा अभाव
कैसे तट पाती भग्न नाव ?
मरु में गंगा सा बना स्वप्न
ओषधियों का समुचित प्रबन्ध
सिर, भुज-दंडों से हीन कहाँ,
तक लड़ सकता दुर्बल कबन्ध ?
विपदाओं का कितना दुराव ?
निर्जन में लीन हुआ विराव

उसको न मिला भरपेट अन्न
जीवन भर सतत रहा विपन्न
गिनती की मुद्राओं में ही
प्रातः सायं ज्यों क्रीत-दास
अविराम परिश्रम करता था
पूरे मिलते तब भी न ग्रास
करता रहता सिर भन्न भन्न
कैसे रह पाता वह प्रसन्न ?

वह एक नहीं था, कई और
दे उन्हें, स्वयं या खाय कोर ?
था बृहत् शकट के अनड्वान
की ज्यों जीवन का लिये भार
लीकों लीकों ही चला, किन्तु
गिर पड़ा धरा पर हार हार
कष्टों का किंचिन् था न छोर
उसका चल पाया कुछ न जोर

रोते रोते रह गये बाल
कुछ भी पर द्रवित हुआ न काल
तरुणी नारी विधवा बन कर
रोती थी, करती थी विलाप
आधार नहीं, पतवार नहीं
उर रह जाता है काँप काँप
हा, अबला का पुँछ गया भाल
छिन गया विभा का तार-जाल

इतने जीवों का व्योम-यान
कैसे भर पायेगा उड़ान ?
किसके इंगित, बल पर उड़ कर
यात्रा कर पायेगा समाप्त ?
चालक-विहीन यह धूम्र-शकट
क्या कर लेगा वह छोर प्राप्त ?
दुर्बल के जीवन में महान
बाधा, विपदाओं का वितान

पहिली नारी भी मरी दीन
दिन पर दिन होकर क्षीण, हीन
चिन्ताओं की व्याकुलता ने
उसमें भर डाले थे विकार
वह सदा रुग्ण ही रहती थी
उठते मिटते रहते विचार
कैसे रह पाती पुष्ट-पीन ?
उसकी सब इच्छाएँ विलीन

उस नारी का सुत एक शेष
जो बैठा था व्याकुल विशेष
पढ़ने-लिखने के ही दिन थे,
पढ़ता था वह चञ्चल किशोर
असहाय बना, उसके सिर पर
टूटा कष्टों का अचल घोर
वह रुंड-मुंड था, महा क्लेश !
उजड़ा सपनों का मुक्त देश

अपलक था रहा चिता निहार
मस्तक पर था दुर्दान्त भार
क्रमशः कर, पग, मुख, कर्ण, केश
रज में हो कर परिणत असार
उपहास कर रहे थे, "जीवन
है क्षार," जीव का यही सार
क्या कुछ, जीवन के आर पार ?
चिन्तन का रहा अभग्न तार

पावक, भू, नभ, जल, वायु-तत्व
जब पाँचों में होता समत्व
जीवन का जल उठता प्रदीप
आलोकित हो उठता प्रकोष्ठ
पर, अन्धकार का महाकाय जब
डस लेता है उसे ओष्ठ
विच्छिन्न, भिन्न, अन्यत्र स्वत्व
क्षय पाँचों भूतों का महत्व

नभ में नभ, मारुत में समीर
पावक में पावक, नीर नीर
मिट्टी में मिट्टी, यों अपना
अस्तित्व पृथक् कर पञ्च भूत
अपने प्रवाह में जा मिलते
जो दृश्यमान, वह सब अभूत
तारक-जालों का रम्य चीर
ऊषा लाली में ज्यों अधीर

जीवन का नही अदृश्य पूर
रे, इस जीवन से परे दूर!
है शून्यमात्र, कुछ नहीं और
यह लोक सार, परलोक क्षार
जब तक जीवन, तब तक गुञ्जन
चिन्तन, स्पन्दन, मन, स्वन, विचार
संसार सदा भरपूर, चूर
छाया, भ्रम वह, जो दूर दूर

वह जीवन जो है, वर्तमान
सत्शिवं, सुन्दरं, है महान
सबसे पहिले इसका महत्व
इससे ही सब जातोत्पन्न
यह सत्य दृश्यगत है ज्वलन्त
प्राणों का है आधार अन्न
इसका ही सब प्रतिबिम्ब, भान
इस पर आधारित सब वितान

इन्द्रिय-द्वारा अनुभूत, ज्ञात
जो संसृति, जिसमें स्वयं जात
यह ही सच्ची संसृति है, जो
जीवन की जननी, दिव्य स्रोत
चेतना और संज्ञा, विचार
जिसके अञ्चल में सुधा-प्रोत
प्रतिछाया - संज्ञातीत गात
स्थिति पर आधारित, सत्य बात

श्रृंखलाबद्ध संसृति विशाल
जग-अखिल-वस्तु गतिमय, प्रचाल
इस ही पर निर्भर वस्तु-क्रिया
सब ही जगती के अन्तरंग
आकार - प्रकारों की रेखा
अन्योन्याश्रय से भरे रंग
स्थायित्व, अगति, यह व्यर्थ जाल
परिवर्तन, आन्दोलन अराल

परिवर्तन जग का रोम रोम
कणिका से ले कर अरुण, सोम
प्राणी, अजीव, संसृति समस्त,
इस चिर विचार के पराधीन
उद्गार, अरुचि, रुचि, मनोभाव
कामना, भावना क्षुद्र, पीन,
प्रतिपल परिवर्तित भौम-लोम
संसार निरन्तर प्रगति-तोम

प्रतिपल सब होते हैं नवीन
प्रतिक्षण सब होते हैं विलीन
परिवर्तित होता रहता है
इस जगती का प्रत्येक भाग
प्रत्येक दृश्य, जो क्षण पहिले
छिपते जाते वे भाग भाग,
जो पहिले था, वह अब कहीं न
प्रत्येक साँस नूतन, नवीन

आवृत्ति अनवरत ही अनन्त
ज्यों शत शत अंकुरवान् वृन्त
कितनी ही वस्तु उभर अभिनव
करती रहती पूरा विकास
कितनी ही में घुसता विकार
स्वाहा करता रहता विनाश
आवृत्ति सतत, फिर भी न अन्त
परिवर्तन के दो द्विविध दंत

द्वन्द्वों का संघर्षण विकास
जल मेघों में ज्यों तड़िन्-रास
निश्चित सीमा आ जाने पर
नव परिवर्तित स्थिति का प्रवाह
प्राचीन खँडहरों में होता
नव जन्म, नयी पर वह न राह
पिछले प्रवाह का कर विनाश
उसमें ही लेता जन्म साँस

अविराम विकास-क्रिया-कलाप
यह किसी वृत्त की नहीं माप
जो बीत गया, सो गया, गया
जो भूत काल, वह फिर न प्राप्त
उसकी आवृत्ति नहीं, वह गति
जा चुकी दूर होकर समाप्त
अग्रग विकास तो स्वयं आप
ऊँचा ऊँचा ज्यों व्योम-वाष्प

संसृति की प्रगति न एक रूप
धारा की ज्यों, वह नहीं कूप
"निश्चित रेखा" उसका न पन्थ
साक्षी प्रत्यक्ष अनन्त काल
जीवित इतिहास लिए सब क्षण
गति क्षण क्षण का सम्बन्ध-जाल
तरु, जन्तु, प्रकृति, मानव अनूप
सब ही विकास-प्रक्रिया-स्तूप

संसार अनवरत प्रगति-शील
ग्रह, सोम, धरा, रवि, व्योम नील
प्रत्येक वस्तु में स्वभावतः
आन्तरिक असंगति विद्यमान
सबही का भूत, भविष्य और
सबही में उन्नति के प्रतान
परिवर्तन पर जग रहा टील
शाश्वत, स्थिर कोई नहीं कील

होता अपुरातन का विनाश
भरता नवीन का सृजन हास
प्राचीन, जीर्ण म्रियमाण बने
नूतन, नवीन धरते स्वरूप
अन्योन्य विरोधी-गुण-कारण
संघर्षशील, ज्यों छाँह-धूप
संघर्ष—प्रगति—प्रक्रिया—भास
द्वय, दूर दूर, पर पास पास

मानव की परिस्थितियाँ समस्त
परिवर्तित अनुभव लघु, प्रशस्त
परिस्थितियों और अनुभवों के
आधारों पर स्थित, मूर्तिमान
विश्वास बदल जाया करता
आश्वास पोत, जो प्रवहमान
परिस्थिति-प्रवाह में महाग्रस्त
परिवर्तन में सब त्रस्त-ध्वस्त

स्थिरता, परिवर्तन मुख्य अंग
दोनों आवश्यक द्विविध रंग
परिवर्तन बिना नहीं स्थिरता
पूर्णता प्राप्ति के लिए काल
आ सके नहीं, परिस्थितियाँ भी,
यह क्रम विकास का पन्थ लाल
जीवन में भर भर नव उमंग
परिवर्तन चलता संग संग

संकुचित दृष्टि, संकुचित ज्ञान
रखता मनुष्य सब बूझ, जान
स्थिरता ही देखा करता है
परिवर्तन जाता सदा भूल
होता जड़ता से अतः मोह
इतना, परिबर्तन का दुकूल
उर में भय भर देता महान
परिवर्तन पर केन्द्रित विधान

नर परिवर्तन के लिए आप
करता परिस्थिति उत्पन्न, वाप
परिवर्तन-अवसर आने पर
हो उठता पर, वह भीति-भीत
ज्यों नीड़ शुष्क हो आने पर
खग के न गूँजते मधुर गीत
देता है अन्धा मोह ताप
वर्तित अदृश्य की तीक्ष्ण टाप

जीवन की दो हैं रूप-रेख
विश्वास, दूसरा है विवेक
संकुचित रूप जीवन, समाज
परिस्थितियों में चाहे जड़त्व
विस्तीर्ण रूप के अञ्चल में
परिवर्तन, अस्थिरता - महत्व
संकुचित रूप है प्रथम एक
स्थायित्व विना प्रगति न अनेक

संसार-सृष्टि उसका विनाश
संसृति-विनाश ही है विकास
कोई भी ऐसी वस्तु नहीं
रखती जो स्थायी हाव-भाव
अति ऊँचा, नीचा स्वर-संगम
प्रतिकूल समागम का उठाव
क्षण क्षण का नियम लिए विकास
यह रहा, रहेगा अनायास

पहिले जैसा था वर्तमान
दूसरे क्षणों में वह न गान
उसमें कुछ भी न शेष रहता
घटना, जग स्वयं चलायमान
टक्कर, सम्बन्ध-विभाग और
अस्तित्व, नाश, संध्या-विहान
जग, नहीं वस्तुओं का वितान,
घटनाओं का दल वर्द्धमान

निज वातावरण प्रभाव डाल
परिवर्तित करता सतत काल
यह विश्व सतत बनता, मिटता
कोयला प्रभास्वर, ताप, आग
इस घटित विश्व-परिवर्तन का
नूतन विराग, नव नवल राग
सरिता-जल में ज्यों वीचि-जाल
उत्पन्न करे अप्सर मराल

मिथ्या न जगत, संसार सत्य
छाया, भ्रम, यह व्याख्या असत्य
यह स्वप्न नहीं, यह नग्न सत्य
कल्पना नहीं, साकार रूप
देदीप्यमान यह ज्योति-पुञ्ज
यह नहीं भ्रान्ति का अन्ध-कूप
भावना नहीं, वास्तविक तथ्य
यह नहीं असत्य, असार पथ्य

जिस समय अनुभवी स्वान्त था न
तब भी यह जग था विद्यमान
अस्तित्व रहेगा तब भी, जब
रह नहीं सकेगा अन्तराल
निस्सीम, अनादि जगत्-प्रवाह
जग सत्य, अतः धारा विशाल
जग ही आदिम, जग ही प्रधान
प्रतिपल पल, क्षण क्षण भ्राम्यमान

होता प्रतिदिन स्वर्णिम विहान
जिसमें उड़ता ऊषा-विमान
क्षण भर में परिवर्तन होता
आती संध्या लेकर विहाग
दिनकर हो जाता दूर अस्त
उल्लास बना फिरता विराग
काले विषाद का वसन तान
रोता निशीथ सुनसान म्लान

पर्वत, सरिता, वसुधा, अपार
अम्बुधि, ग्रह - मंडल, आर-पार
ये सब परिवर्तन परिस्थिति के
सागर-मन्थन से स्वतःजात
कण कण के कानों में कहती
रहती है गति की कथा बात
क्षितिजों तक विटपों की कतार
जग का रहस्य सुनती उदार

पावस में नभ के सजल गान
आतप लेता है चुरा म्लान
क्षण-परिवर्तित ऋतु लिये लिये
घूमा करती है धरा गोल
प्रतिपल परिवर्तित संसृति की
शत शत जिह्वाएँ सतत लोल
परिवर्तन के शाश्वत प्रतान
आधार-स्तम्भ, जाज्वल्यमान

यह जगती भौतिक जन्मजात
भौतिक रजनी, भौतिक प्रभात
संसार-क्रिया के विविध भाव
गतिशील वस्तु के भिन्न रूप
अन्तर्सम्बन्धों की स्थिति ही
चञ्चल तत्त्वों का प्रगति-स्तूप
यह सत्य, नहीं यह व्योम-पात
सञ्चालित स्वयं जगत् - प्रपात

परिवर्तन ही है शिवं, सत्य
गति के ही हैं ये अखिल कृत्य
परिवर्तन के ही इंगित पर
आते हैं बचपन-युवा-काल
वृद्धावस्था, वह अल्हड़पन
मादकता-अनुभव-भरा भाल
परिवर्तन विभु के सभी भृत्य,
चञ्चल कटाक्ष पर जगन्नृत्य

पर, यह न प्रगति, यह वज्र-पात
हिंस्रों ने शोषित किया गात
देखता रहा वह विश्व-पिता
निर्बल को जग ने दिया मार
मकरों ने उसको निगल लिया,
कर सका नहीं मझधार-पार
झड़ सका न होकर पीत पात
ले गई हरा ही तोड़ वात

पकी खोपड़ी, अब 'धन्नू' को
क्रिया-कर्म करना था
पिता, पिता, हे पिता ! शब्द कह
चिता-पार फिरना था
मुख की ओर लगा निहारने
वह अनभिज्ञ, अपरिचित
कठिन समस्या, म्लान अत्यधिक
ज्यों हिम में पंकज सित

वह बसन्त का मृदु पल्लव था
देखी थी हरियाली
कहाँ ज्ञात था यहाँ तुषारों
वाली बदली काली ?
क्रीड़ा, नर्तन में ही सुन्दर
समय बीत जाता था
विस्मृति की शीतल छाया में
मुस्काता, गाता था

पर, पर्वत सा भार टूट कर
प्राणों पर बिखरा था
आतप ने सौरभ हर ली, वह
सुमन कहाँ निखरा था?

जननी का वात्सल्य न पाया
स्नेह शून्य में खोया
कौन मूक सूने कोने में
जी भर भर कर रोया?

और, पिता भी दूर सिधारा
व्यथित शून्य का सम्बल
स्नेह-रिक्त हो गया, विभा में
दीप गया लौ में गल

यों ही रहने दो मस्तक को
सपने भरे पड़े हैं!
कंटकाग्र पर तुहिन-कणों से
शत शत धरे, जड़े हैं!

जो इच्छाएँ ले सोया वह
पुनः नहीं जागेंगी
मृग-मरीचिका की ज्यों छलना
अब न कहीं भागेंगी

भाल न छेड़ो, इसके भीतर
केवल राख भरी है!
सौ सौ बार यहाँ इच्छाएँ
तड़प तड़प बिखरीं हैं!

अन्तर् का भग्नावशेष यह
और भग्न होने दो!
जो सपने सो गये, खो गये
उन्हें और खोने दो!

निर्बल का आधार मृत्यु है
यह ही एक सहारा
बाधा, विपदा, व्यथा कसक की
यही तोड़ती कारा

यहाँ पहुँच कर ही वह जग से
समता कर सकता है
किन्तु, सतत जीवन भर औरों
का वह मुख तकता है

मृत्यु! मृत्यु! बाँध ले मुझे भी
अपने आलिंगन में
जीते जीव यहाँ रह जातीं
हैं इच्छाएँ मन में

मेरे घर वालों को भी
ढँक ले अपने अञ्चल में!
कैसे जी पायेंगे जग के
ये प्रपंच में, छल में?

मात्र बीस रुपयों से ले
चालीस प्राप्त कर पाये
अन्धकार के काले बादल
जीवन भर ही छाये

मुद्राओं पर ही जीवन को
क्यों आँका जाता है ?
क्या सोने के पिंजड़े में
बन्दी पंछी गाता है ?

यहाँ नहीं मिल पाया कुछ, तो
आगे क्या पाना है ?
कौन जानता है यह, मर कर
कहाँ चले जाना है ?

जीवन स्वर्ग, स्वर्ग जगती है
कहीं न पंकिलता है
जीवन का शतदल सहस्रशः
संसृति में खिलता है

उसने पोंछ लिये आँसू
उसके मन में परिवर्तन
दृढ़ता, संयम - पूर्ण भावना
करने लगी विवर्तन

मर जाने दो जीर्ण पुरातन !
क्या रोने-धोने में ?
मूल्य नहीं इन नीर-कणों का
जो गिरते कोने में

दैन्य न मानव का आभूषण
नर बढ़ता आया है
वह न रुका, रोया न भूत पर
प्रगति मनुज - छाया है

यों रोता तो मिट जाता वह
शक्ति मनुज का सम्बल
उद्योगी, संयत मानव ही
पाते हैं जगती · तल

वे जीते हैं, और दूसरों
को जीने देते हैं
परिस्थितियों, विपदा, बाधाओं
से लोहा लेते हैं

मरे हुए चिन्तन को ज्वालाओं
में घुल जाने दो!
उसके लिये न रुदन उचित है,
मस्तक खुल जाने दो!

उसने भरकम लट्ठ उठाया
दे मारा मस्तक पर
भीतर का सारा रहस्य खुल
गया यहीं ही पक कर

और गिराया घृत ऊपर से
जिससे सब जल जाये
बीत गया जो, गीत गया जो
फिर न लौट आ पाये

'हहर' 'हहर' कर विहँस रही थी
उन्नत ज्योति - शिखाएँ
जैसे थी सन्देश सुनातीं
'हम न कभी रुक पायें'!

●

दूसरा सर्ग

दिवस तीसरा था, श्मशान में
एक बार फिर से जाना था
मृतक - अग्नि जो रही प्रज्वलित
विधि से उसे बुझा आना था

धनपति था, दो चार और थे
नीरस मौन चले जाते थे
भाँति-भाँति की टिप्पणियाँ कर
लोग परस्पर बतलाते थे

उसने छोड़ा नहीं कि कुछ, यह
द्वादशाह कैसा कर देगा ?
दान, दक्षिणा, गाय आदि क्या
ब्रह्मभोज जी भर भर देगा ?

कोई कहता, देने - लेने
में तो हरि का नाम यहाँ है
ये तो लेना मात्र जानते,
देने का क्या काम यहाँ है ?

पर, भाई ! उसने तो पूँजी
छोड़ी होगी पूरी पूरी ?
सञ्चय करते मरा, स्वर्ण की
कमी न होगी, भरी तिजूरी ?

राम कहो जी, स्वर्ण कहाँ का ?
'छल्ला' तक तो पास नहीं था
चूहे घर में डंड पेलते
छत के ऊपर घास नहीं था

हम तुम ही हैं, जिनकी बहुएँ
स्वर्ण - मेखला लटकातीं हैं
सभी लोग चुँधिया जाते, जब
वे पैजनियाँ सटकातीं हैं

कौन देखता है खाने को
घर में चाहे भूखा रह ले ?
आभूषण के बिना न इज्जत
सब कुछ पीछे, गहना पहिले

सच कहता हूँ मैं तो भाई,
रूखी सूखी खा लेता हूँ
पाँच सात मासों में गहने
तो दो चार बना लेता हूँ

वह तो पूरा टटमूँजी था
अच्छा हुआ मर गया जल्दी
इनका भी हिसाब रखता था
नमक, मिर्च, धनिया, क्या हल्दी ?

कोई सज्जन भी था उनमें
वह कुछ बात सही कहता था
बेचारा था भला आदमी,
साधारण सा ही रहता था

भले आदमी को जल्दी ही
ईश्वर पास बुला लेता है
जिनकी चाह यहाँ होती है
यहाँ नहीं रहने देता है

ईश्वर की भी गति उल्टी है
दुष्ट मौज जग में करते हैं
अरे, देवता भी दुष्टों से
घबराते, रहते डरते हैं

किसी तरह से अपने घर का
काम चलाता था बेचारा
पर 'भगवत इच्छा बलीयसी'
असमय हुआ राम का प्यारा

पता न, कब छोटे छोटे से
अंकुर फूलें और फलेंगे ?
आँधी में टूटेंगे अथवा
ग्रीष्मातप में कहीं जलेंगे ?

बस, परमेश्वर को ही चिन्ता
वह ही पार लगावे नैया
कीड़ी को कण, हाथी को मन
वह ही नित देता है भैया !

पाँच, सात, दस वर्ष और वह
बैठा रहता तो अच्छा था
बच्चों को था बहुत सहारा
अभी आयु में भी कच्चा था

इस अनाथिनी का भी जीवन
बिगड़ गया, बेकार हो गया
अब इसको है कहाँ आसरा ?
इसका तो सौभाग्य खो गया

नहीं लिखा था सुख अदृष्ट में
उसके, वह यों ही दुख पाया
पहिली स्त्री से भी न मिला सुख,
रहती थी रोगी ही काया

और दूसरा ब्याह किया तो
डूब गई मझधार भँवर में
हार गया वह दुर्बल योद्धा
पीड़ाओं के महासमर में

वहाँ पहुँचकर विधि से उसने
तप्त राख जल से की शीतल
'सूँ' 'सूँ' कर निःश्वास ले रहा
था अति भस्मावृत्त महीतल

जैसे करता सम्बोधन
इसको तप्त तप्त रहने दो !
जीवन भर संतप्त गात्र को
भार नीर का मत सहने दो !

इस जल से क्या बुझ जायेगी
युग युग की चिर तृषा भयंकर ?
क्या मंत्रों से रुक जायेगी
जीवन की ज्वाला प्रलयंकर ?

अस्थि-फूल वह ढूँढ़ रहा था
जिन्हें बहाना था गंगा में
दाँत और पँसलियाँ, करों में
जो सिर में, पग में, जंघा में

पके चावलों की हँडिया पर
बैठे कौवे आँख लगाये
वे उनसे कब कम थे, औरों
के श्रम पर जो मौज उड़ायें

मृत शरीर के लिये दी गयी
बलि काले कौवे खाते हैं ?
मृतकार्पित मिष्टान्न स्वर्ग तक
काले कुत्ते पहुँचाते हैं ?

कौन कहे, नश्वर जगती में
कब से नर जीते, मरते हैं ?
भू से उड़ उड़ नभ से बादल
कब से यों झरते, भरते हैं ?

मरने - जीने के थोड़े से
अन्तर में ममता बसती है
जीवन के सम्मिलन - अंक में
अविरल खिल लिख कर हँसती है

पीड़ित को भी यदि देवें तो
संभव दूर पहुँच पायेगा
उसके मन को शान्ति मिलेगी
वह जीवनभर गुण गायेगा

जो पाने के अधिकारी हैं
उनके पास पहुँच पाता क्या ?
अरे, स्वर्ग के पूत धाम से
इस कुत्सित गण का नाता क्या ?

जब छा जाता अन्धकार, उस
रजनी में ये ठग जगते हैं
स्वर्ग, नरक के दिये प्रलोभन
भोले भालों को ठगते हैं

मनुज मर गया, राख हो गयी
पीछे भी क्या कुछ बचता है ?
तन-मन ही रह गया न तब क्या
खाया और पिया पचता है ?

मन में थी गम्भीर चिन्तना
लौटा तब भारी सा तन था
कलियाँ, फूल, लता मुर्झायी
जीवन का नीरस उपवन था

बार बार आग्रह करने पर
भी वह कब भोजन कर पाया ?
रही अनिच्छा, रुचा न कुछ भी
नाम मात्र का कौर उठाया

भोले बच्चों को गोदी में
लेकर जा बैठा वह बाहर
सोच रहा था, इस विधवा के
ये ही केवल शेष जवाहर

मा का भी कैसा जीवन है ?
बच्चों में घुल मिल जाती है
जीवन की सूखी लतिका लघु
सी आशा पर खिल जाती है

उसके कारण पीस, कात कर
उसको बड़ा बना देती है
उसकी साधारण पीड़ा पर
अगणित देव मना लेती है

बालक के सुख, शान्ति-हेतु वह
निज जीवन भी दे सकती है
उसके कारण तीन लोक की
सारी बिपदा ले सकती है

माता का वात्सल्य धन्य है
धन्य, धन्य, उसकी उदारता !
सब कुछ हो, पर मा न रहे तो
जीवन में सारी असारता

कहाँ चलूँ, खोजूँ माता को
मा मेरी, तू कहाँ सिधारी ?
बँधी हिचकियाँ, रोया, पड़ती
थी आखों से बूँदें खारी

हो आते जब पुत्र बड़े तो
उनकी शादी हो जाती है
बहुओं का साम्राज्य, और मा
सिर धुन धुन कर पछताती है

कल्प वृक्ष के फूल और फल
सौरभ श्री नन्दन उपवन की
अम्बर का विस्तार और मृदु
शीतलता हिमकर, चन्दन की

सागर की गम्भीर गहनता
पावन उज्ज्वलता दिनकर की
धरती की स्थिरता, गरिमा भी
कल कल गीति मधुर निर्झर की

भ्रमरों की मधुमय गुञ्जनता
शुचि स्वतन्त्रता नव समीर की
ऊषा की लालिमा मनोरम
दया, क्षमा, करुणा कुटीर की

संसृति की शत शत, सहस्र इन
हुआ वस्तुओं का जब संगम
उस दिन मा की प्रतिमा निर्मित
हुई, पंख पा गये विहंगम

मा के मधु वात्सल्य, स्नेह से
दिनकर सा जीवन हँसता है
जननी के अभाव में जीवन
को नित काल-राहु ग्रसता है

भाई, बहिन सभी थे, धनपति
को ही पर ज्यादा पीड़ा थी
ले कर समवेदना लोग जो
आते थे, वह तो क्रीड़ा थी

वह गम्भीर, विषाद भरा था
अपनी चिन्ता भूल गया था
अपनी भगिनी की चिन्ता से
इस तट से उस कूल गया था

दो मर गयी, एक रह पायी
उस पर माता दूर सिधारी
पिता गये मझधार छोड़ कर
फूट गयी तकदीर हमारी

मैं मरु में नीरस लघु पादप
आतप में क्या बढ़ पाऊँगा ?
बिपदाओं का जाल भग्न कर
क्या अम्बर में चढ़ पाऊँगा ?

मेरी बड़ी बहिन या माता
इसको सम्बल कहाँ मिलेगा ?
पीहर के प्रतिपल चिन्तन से
क्या जीवन का जलज खिलेगा ?

माता और पिता के दीपक
दो उज्ज्वल घर में जलते थे
बुझे हाय, उनकी आभा में
हम असहाय जन्तु पलते थे

जो आते, वे यों कहते थे
देखो, लाज पिता की रखना !
खर्च-वर्च का काम सर्वथा
ठीक-ठाक अच्छा ही करना !

वह क्या बार बार आयेगा ?
उसका नाम न डूबे सञ्चित !
कंजूसी करना न जरा भी
ब्रह्मभोज, कुछ रहे न वञ्चित !

कमी कौन सी यहाँ आज दिन
पत्नी है, बच्ची-बच्चे हैं ?
क्या न गेह में ? यों कहते हम
उसके मित्र रहे सच्चे हैं ?

धनपति को ऐसे जन कुछ भी
जरा नहीं अच्छे लगते थे
झूठे मित्र बता अपने को
भोले बच्चों को ठगते थे

मिलनी आवश्यक सहायता
दुख में चिर परिचित लोगों से
पर, ये उल्टे पीड़ा देते,
हो सम्पर्क न कटु योगों से

कहते हैं क्या कमी गेह में ?
सब अपनी अपनी ही जानें
चाहे पीड़ित जन मरता हो
पर, वे क्यों उसकी कुछ मानें ?

मरे पिता, खो गया आसरा
और रुग्णता में धन स्वाहा ?
घर उजड़ा, बिगड़ा भविष्य भी
अब भी जग का हुआ न चाहा ?

"कंजूसी मत करो" कि जैसे
लोगों ने धन दे रक्खा हो ?
जग भर के मानापमान का
जैसे ठेका ले रक्खा हो ?

पर, क्या वे अपने घर में भी
ऐसा कभी किया करते हैं ?
दुर्बल का शोणित पी पी कर
ऐसे लोग 'जिया करते हैं

पर, कोई अच्छा भी था जो
बात पते की ही कहता था
उनके दुख से दुखी ग्लान बन
सच्चे भावों में बहता था

देखो भाई, बिना बिचारे
ज्यादा खर्चा मत कर देना !
साधारण सा काम रहे बस,
कुछ भी ऋण उधार मत लेना !

बड़ा बुरा आ रहा जमाना
फूँक फूँक कर पग धरना है
वे मर गये, हमें पर उनके
पीछे थोड़े ही मरना है ?

तुम्हें स्वयं आगे पढ़ना है
बच्चों को भी बढ़ा चढ़ाना !
तुम पर ही है भार गेह का,
माथे पर कुछ भी न मँढ़ाना !

दो पैसे यदि रहें पास में
मौके पर आड़े आते हैं
लोगों का क्या, ये तो यों ही
दुनियाँ को ठग ठग खाते हैं

इनके चंगुल में मत फँसना !
जो करना, वह सोच समझ कर !
ऐसा हो जाये न कभी भी
पछताओ फिर उलझ उलझ कर !

लगा सोचने वह भविष्य पर
कैसे पार लगेगी नैया ?
भव-सागर से सभी अपरिचित
यात्री सब, कोई न खिवैया

इन लोगों को दे देने से
क्या 'वैतरणी' रुक जायेगी ?
जैसी हैं उनसे भी ज्यादा
बाधाएँ आ झुक जायेंगी

यहाँ कौन सा स्वर्ग भोगता ?
दुर्बल जन क्या सुख पाता है ?
जीते जीव यहाँ ही वह तो
'वैतरणी' में अकुलाता है

'असि-पत्रों' की तीव्र धार सी
चिन्ता उर में चुभ जाती है
अन्ध कूप, यातना-अग्नि में
जीवन - लीला पछताती है

यम-दूतों से ये नर-राक्षस
काट काट कर खा जाते हैं
असमय समय अहर्निश दुर्बल
को जब ज्यों ही पा जाते हैं

घर में भूनी भाँग नहीं है
कहीं न तिनके झोंपड़ियों पर
किन्तु खेद है, पड़े हुए हैं
पत्थर अपनी खोपड़ियों पर

ऋण ले ले कर, व्याज व्याज पर
देवों का तर्पण करते हैं
अशन वसन सारा घर भर का
वञ्चक को अर्पण करते हैं

आप स्वयं तो डूब रहे हैं
पर, पितरों को तारेंगे ही
ऐसे संज्ञा-हीन नरों में
वञ्चक बाजी मारेंगे ही

उन पैसों से, अशन वसन से
भ्रष्ट जनों के घर भरते हैं
और इधर हम पागल अपने
अन्ध-कुकर्मों पर मरते हैं

दया नहीं है, बुद्धि नहीं है
'धर्म, धर्म' यों चिल्लाते हैं
नहीं समझते, ऐसे धर्म, कर्म
पाखंडी की घातें हैं

धर्म-कर्म रह नहीं गये हैं
सतयुग की गाथा गाते हैं
समझ नहीं, प्रज्ञा- विहीन हैं
क्या मृत लौट कभी पाते हैं ?

दुर्बल है अपना समाज, अहि
कृश वक्षस्थल पर लिपटा है
कुंडलियों में बद्ध हाथ-पग
तन सीमित, सब कुछ सिमटा है

क्या अभाव में मरे पितर वे
पाखंडों से सुख पाते हैं ?
निरख निरख कर बुद्धि-हीनता
क्या न सदा वे रो आते हैं ?

घर में दीपक बुझा हुआ है
निर्जन में दीपक धरते हैं
एक बार की बात नहीं है
पीढ़ी दर पीढ़ी मरते हैं

आओ हे उज्ज्वल प्रकाश !
मेरे अंतस्तल को छू जाओ !
असत्, तमस्, मृत से मुझको तुम
सत्य, ज्योति, अमृत में लाओ !

●

तीसरा सर्ग

तिमिर है चारों ओर अगाध
दीप जलता छोटा सा मंद
जग रहा कौन यहाँ इस काल
जब कि जग की आँखें हैं बंद ?

चलो, देखें चल कर हम पास
अरे, यह तो है धनपत राय,
यहाँ ऐसे तम में चुपचाप
अधिक चिन्तित यह क्यों है हाय ?

पिता का नाम 'अजायबराय'
और मा का 'आनन्दी' नाम
बनारस से कुछ ही तो दूर
मुख्य 'लमही' है इसका ग्राम

बदी दशमी, सावन का मास
"एक नो तीन सात" शनिवार
लग्न में जन्म हुआ, कायस्थ
सर्व परिचित मुन्शी परिवार

तीन बहिनों में जीवित एक
वर्ष छोटा है उससे आठ
किया करता था बहुत विनोद
किन्तु, सब चला गया अब ठाठ

चार आने गज से ज्यादा न
पहन पा सका अभी तक वस्त्र
सम्मिलित इसका सभी कुटुम्ब
रहा 'गुल्ली-डंडा' ही अस्त्र

सदा 'अँधरा पुल' का मजबूत
लिया चमरोधा जूता मोल
दाम बारह आने ही मात्र
कहानी में मन डाँवाडोल

सदा दादी करती थी प्यार
कथाएँ नित्य सुनाती खूब
किन्तु, आँखों में नहीं थकान
नहीं पाता था कुछ भी ऊब

मर चुके हैं इसके मा - बाप
वृद्ध दादी जो करती लाड़
चना सा इधर उधर अब आप
भयंकर सुलग रहा है भाड़

मरी जब इसकी जननी दिव्य
शोक, दुख के प्रति था अज्ञान
किन्तु, अब आती है मा याद
पिता, दादी स्मृति में अनजान

अभागा, वह जग में हतभाग
नहीं जिसके जीवित मा-बाप
पिता - माता का रहे मिलाप
मिलें चाहे फिर जग-त्रय-ताप

सोचता है अपने ही आप
आज है मन इसका उद्भ्रान्त
पठन-पाठन के प्रति अनुराग
किन्तु परिस्थितियाँ करतीं क्लान्त

नहीं है दीपक में कुछ स्नेह
दीप करुणा का सा इतिहास
कभी वह प्लावित हो पाया न
रहा साथी बन सदा उदास

पढ़ा करता जब यह चुपचाप
दीप रह-रह कर प्रतिपल मौन
सोचता रहता यही अबाध
अधिक निर्धन इससे भी कौन ?

बिछाने तक को यहाँ न टाट
अस्तबल के ऊपर का भाग
उपेक्षित, अस्त-व्यस्त, पक्का न
किन्तु, इसका अध्ययन-विभाग

यही है भोजन का आवास
यही है इसका शयनागार
जहाँ चमगादड़ भी रुचते न
वहाँ यह ही जीवन-आधार

मच्छरों की उठती झंकार
खटमलों के भी कार्य - कलाप
अधिक वर्षा से छत में स्राव
शरद् में ठंढ, ग्रीष्म में ताप

सूर्य-किरणों की नव-मुस्कान
जहाँ कर पाती नहीं प्रवेश
कलाधर की रश्मियाँ विमुग्ध
जहाँ का बदल न पायीं वेश

कोठरी के अन्तर् में ध्वान्त
जहाँ रहता केवल दिन-रात
जहाँ हँस पाती नहीं स्वतन्त्र
प्रात की सुरभित मलयज वात

वहाँ दिनचर्या सदा व्यतीत
नहीं पौष्टिक भोजन का काम
पहिनने को न वहाँ कुछ वस्त्र
नहीं तन का, मन का आराम

स्वयं भी पढ़ता है जी तोड़
किसी के यहाँ पढ़ाता और
शहर का कोई एक वकील
उसी के यहाँ रहे, ज्यों ढोर

दया कर उसने दिया निवास
जहाँ घोड़े का रहता घास
स्वयं वे आते उधर न पास
किन्तु इसको इसमें उल्लास

कहाँ यह चला जाय अस्ताभ ?
यही है इसके लिये महान
बहुत सों का सड़कों पर वास
इसे कम से कम मिला मकान ?

शहर है, यहाँ न कोई मीत
यहाँ तो पैसों का संगीत
स्वर्णवाला ही सकता जीत
यहाँ वैभववालों से प्रीत

नहीं है इसके पास अपार
धान्य-धन का सञ्चित व्यापार
अभी पैसे भी तो दो चार
न दे पाया जो लिये उधार

देखता इधर उधर मिष्टान्न
टपक आ पड़ती मुख से लार
किन्तु चलता कोई न उपाय
लुप्त इच्छाएँ तुच्छ, असार

अभी तो खेद-कूद का काल
अभी तो विकसित पूर्ण न भाल
किन्तु परिस्थिति का चक्र कराल
कर गया छिन्न, अपर्ण मृणाल

आज यह व्योम-पतित असहाय
नहीं मिल सका धरा-आधार
कहीं जीवन में सार न शेष
इसे मिल पाया पूर्ण न प्यार

अरे, इसका दुख-द्वन्द्व अनन्त
हन्त, इस पर ही घर का भार
जगत के कोलाहल में कौन
सुनेगा इसकी करुण पुकार ?

कमाता रुपये जो दो चार
उसी में ही यह किसी प्रकार
चला लेता है अपना काम
भेजता और, जहाँ घर - बार

आज भूखा है इसका पेट
हो सका आज नहीं कुछ प्राप्त
खिन्न यों ही यह किसी प्रकार
रात कर देगा शेष, समाप्त

और जब, उग आयेगा प्रात
भरेंगे खग जब स्वर्ण-उड़ान
तभी यह अति भूखा, गतप्राण
खोजता कहीं फिरेगा धान

नई ऊषा का कनक-विहान
न दे पायेगा कुछ आल्हाद
अरुण की किरणों का उन्माद
भरेगा और अधिक अवसाद

प्रात - प्रहरी कुक्कुट का गान
नहीं होवेगा ज्ञात नवीन
जगत का कोलाहल अविश्रान्त
लगेगा गत युग सा प्राचीन

लोग घूमेंगे चारों ओर
करें आबालवृद्ध जल-पान
किन्तु यह सूना सूना, म्लान
आज दुनियाँ में इसकी मा न

नहीं तो क्यों मरता यह भूख ?
पिता मरते तो भी क्या बात
अगर मा जीवित रहती आज
सूख ऐसा क्यों रहता गात ?

पीसती चक्की वह दिन-रात
जनों का सदा कातती सूत
बना लेती शोणित का स्वेद
काम करती यों जैसे भूत

स्वयं रह जाती भूखी आप
किन्तु पा सकता पुत्र न ताप
मरी मा पहले, पीछे बाप
मृत्यु का कितना दारुण पाप ?

कौन देता है अब जल-पान ?
कौन सुनता सुख दुख की बात ?
हो गया तम-स्मृतियों में लीन
जन्मदा का वात्सल्य-प्रभात

सभी भूखे उठते हैं लोग
किन्तु सोते हैं सब भरपेट
यहाँ पर उलटा ही व्यापार
यहाँ आया 'सावन' में 'जेठ'

आज की ही न सिर्फ यह बात
यहाँ ऐसा ही होता प्राय
सोचने पर भी बारम्बार
निकल पाता कोई न उपाय

और घर से आया है पत्र
पास हों तो कुछ भेजो दाम
यहाँ कुछ भी न रहा है अन्न
रुका है घर का सारा काम

प्रथम तो श्रम, फिर गहरी भूख
दूसरी घर की चिन्ता भीम
मारता इधर उधर पग-हाथ
व्यथा-सागर की ऊर्मि असीम

पहिनने तक को नहीं कमीज
पाठशाला की पास न फीस
जूतियाँ भी जर्जर, पग नग्न
धुन रहा है दीपक भी शीश

ध्यान में आ पाता न विचार
लगेगा कैसे बेड़ा पार?
नहीं मरने पर भी सुख, शान्ति
और जीवन कृश, गहरी हार

अरे, वे नन्हे नन्हे बाल
जिन्हे मिलना आवश्यक दुग्ध
न पौष्टिक उनके लिए पदार्थ
नयन झरते, होते न विमुग्ध

कहाँ पिस्ता, द्राक्षा, बादाम
सेव, सन्तरे और अंगूर ?
कहाँ है इनके लिए प्रबन्ध
गात्र रहता जिनसे भरपूर ?

अरे, मा-बापों के ही पास
नहीं जब खाने तक को ग्रास
कहाँ से उनके पास ज्वलन्त
लौट आ पायेगा मधु हास ?

नहीं जब मातृ-स्तनों में धार
हाथ - पैरों में भी उल्लास
कहाँ पायेंगे नव शिशु शान्ति ?
कहाँ से बिखरेगा विश्वास ?

बाल - बच्चों का होना भार
आज पीड़ित की यही पुकार
जगत में नहीं शान्ति, सुख, प्यार
विकल हैं, गये अत्यधिक हार

बाल - बच्चे ही जब कमजोर
उगेगा तब कैसे मधु भोर ?
देश के बच्चे ही हैं स्तम्भ
राष्ट्र के बच्चे ही शिरमोर

नहीं पढ़ने का कहीं प्रबन्ध
नहीं हो पाती विकसित गन्ध
गात्र में जर्जर, मति में मन्द
विचर पायेंगे क्या स्वच्छन्द ?

सुतों की इच्छाओं पर ध्यान
नहीं दे पाते हैं मा - बाप
शून्य में टकराता है दूर
आज उनके जीवन का ताप

आज जीवन सचमुच दयनीय
नहीं धन, वैभव जिनके पास
आज पैसा ही सर्वप्रधान
यही उल्लास, हास, विश्वास

आज धरती, सागर, आकाश
नहीं हैं मुक्त, शुद्ध, है त्रास
आज का वातावरण हताश
आज बहती सौरभ न अयास

नाश का ताँडव नृत्य अपार
चल रहा है परितः निस्सार
और उस पर रति-केलि-विहार
जगत् के सपनों का सञ्चार

देश भिखमंगों का आवास
मर चुका सत्य आत्म-विश्वास
आज जन जन ही पीड़ित, दास
राष्ट्र-मानव का रुद्ध विकास

सोचते होंगे शिशु सुकुमार
यहाँ से दूर, गाँव के पार
हमारे भाई का संसार
नई चीजों की है भरमार

लौट वह आयेगा जब ग्राम
लिये होगा द्राक्षा, बादाम
सन्तरे, सेव, मखाने, आम
बूट, कपड़े, पायेंगे दाम

किन्तु, वे क्या जानें सुकुमार
यहाँ जीवन में भरा विकार ?
बुभुक्षित भाई, उसका प्यार
चाहता स्वयं यहाँ उपचार

आज हो आया घर का ध्यान
दीखने लगा सभी कुछ स्पष्ट
कहाँ वह स्वयं, कहाँ घर बार ?
सोच कर हुआ अत्यधिक कष्ट

खेलते थे, खाते थे और
नहीं था सुख-दुख का जंजाल
किन्तु धारा का भुग्न प्रवाह
कहाँ से कहाँ ले गया काल ?

बचा कर घर वालों से आँख
दौड़ जाते थे साथी साथ
परस्पर था कितना उत्साह ?
कूदते, आते कभी न हाथ

साथ ही चलता रहता चाँद
संगिनी ही रहती थी धूप
किया करते थे पुलकित प्राण
सघन वर्षा के भिन्न स्वरूप

नहीं था झूठ-सत्य का ज्ञान
नहीं था पाप-पुण्य का ध्यान
नहीं था ऊँच-नीच का भान
नहीं था मान और अपमान

अहा, तब कितना था आनन्द
रहे जब पंछी से स्वच्छन्द ?
किन्तु, अब तो सब गति-मति बंद
जगत के विविध मनोभव द्वन्द्व

हन्त, सब ही का सब परिवार
दूर है, जिससे मिलता प्यार
कूल पर मैं, वे हैं उस पार
एक स्मृतियों का ही सञ्चार

और उनमें कितने ही लोग
तिरोहित हुए भोग कर भोग
हन्त, क्षणभर का ही संयोग
यहाँ जीवन में कितने रोग ?

भले, अच्छे, कितने ही दुष्ट
हीन, दुर्बल, कितने ही पुष्ट
विरागी, रागी, विरही, तुष्ट
मृत्यु की जिह्वा सब पर रुष्ट

हुए कितने ही वहाँ विलीन
जहाँ से कोई फिर न नवीन
सभी परिचित-अपरिचित-जनीन
रहा कोई न जहाँ कृश, पीन

यहाँ संसृति के ही ये भेद
नहीं हैं वहाँ व्यथा, सुख, खेद
एक जीवन में शत शत छेद
मृत्यु के पीछे सब निर्वेद

निम्न सुख - दुख से कोई दूर
मृत्यु जीवन का है क्या पूर ?
असम्भव, यह अज्ञात रहस्य
स्वप्न जो कर देता है चूर

सतत परिस्थितियों के आघात
'भाग्यवादी' बनने की बात
और सुख-दुख के यातायात
बुद्धि को दे देते हैं मात

व्यथा में उठता मनुज पुकार
हरो, मेरे जीवन का भार !
किन्तु उसके क्रन्दन के तार
पहुँच पाते हैं क्या उस पार ?

रुदन से हल्का होता स्वान्त
किन्तु क्या परिस्थितियों का ह्रास
शान्ति देता अन्तर्विश्वास,
सुनेगा कभी नहीं आकाश

खेल है यह जीवन तो एक
खिलाड़ी रक्खे सच्चा ध्यान
जीत जाये कोई कर घात
अगर, तो भी क्या हुआ महान ?

चाहिये ऐसा करना खेल
रहे आँखों के आगे जीत
हार पर चाहे होवे हार
किन्तु छोड़े न सत्य से प्रीत

खिलाड़ी जो सच्चे बलवान
नहीं रोते हैं वे, डरते न
घात पर घात, चोट पर चोट
लगें अविराम ध्यान धरते न

छोड़ते कभी न वे मैदान
त्योरियों पर बल भी आता न
हृदय में कभी नहीं मालिन्य
कहीं उनका साहस जाता न

किसी से कभी न उनका द्वेष
खेल में रोने का क्या काम ?
हृदय पुलकित करने को खेल
न उसमें रुदन, चिढ़न, विश्राम

सफल, असफल होते जो लोग
स्वयं ही हैं इसके वे हेतु
करेंगे जैसी जीवन-दृष्टि
तनेगा वैसा जीवन-केतु

अरे, यह जीवन है संग्राम
रहें असफल, हो सकें समान
सफलता परिस्थितियों की बात
महा असफल भी कभी महान

आनुवंशिकता, बीता काल
और लालन - पालन का भाव
उपस्थित युग, वेला की बात
छोड़ते सतत अदृश्य प्रभाव

इसलिये होती वृत्ति विशिष्ट
प्राणियों की, जीवन असमान
इन्द्रियों के भोगों की ओर
आत्म-सुख-परायणों का ध्यान

सत्य - जीवन का जो आनन्द
न उसके प्रति जिनकी रुचि शुद्ध
ध्येय - निष्ठा, चारित्र्य - घनत्व
न उनमें आते कभी प्रबुद्ध

सुकोमल जीवन जैसे पुष्प
वायु के जो सहता आघात
झूलता, पर वह मुर्झाता न
चतुर्दिक कोमल शाद्वल पात

लताओं से वह कोमल क्या न ?
वृक्ष के झोंके सहे कठोर
किन्तु वे लिपटी रहतीं शान्त,
वृक्ष की त्वचा शुष्कतम घोर

बुद्बुदों से भी कोमल क्या न ?
लहरियों पर तिरते अविराम
टूटता कभी न जिनका स्वप्न
यही कोमलता जीवन - धाम

रही उस समय अल्प ही आयु
कर दिया अनुचित बाल-विवाह
पिताजी समझदार, था ज्ञान
किन्तु इसमें वे भूले राह

विहग की उड्डीयन-प्रिय पाँख
उन्होंने पिंजड़े में की बन्द
आज भी उड़ने के ही दिवस
किन्तु मैं कहाँ रहा स्वच्छन्द ?

मिली भी तो स्त्री महा कुरूप
दौड़ने चले, आ गया कूप
लगाऊँ क्या मै उसके धूप ?
मूर्ति भी कैसी, जैसे सूप

अरे, ऊपर का रंग, स्वरूप
नहीं नारी का सच्चा रूप
किन्तु हो कोमल तो कुछ स्वान्त
यहाँ तो सभी वस्तु विद्रूप

नहीं कुछ उसका हृदय उदार
कहाँ है अन्तस्तल में प्यार ?
सदा कर्कश - वाणी-झंकार
जंगलीपन ही, कलहागार

मनुज का जीवन बड़ा हताश
रहे जब सहृदय साथी पास
तभी उसमें आशा, विश्वास
नहीं तो कटुता और विनाश

न मानूँ मैं 'यह अपना भाग्य'
किसी का किया हुआ अज्ञान
कभी जीवन का बना विधान ?
भार ढोऊँ क्यों मैं अनजान ?

विमाता का उसका स्वर-युद्ध
गेह का करता सत्यानाश
पिताजी गये किन्तु मैं बद्ध
कहाँ, किसके जा रोऊँ पास ?

हुआ जीवन कैसा संकीर्ण ?
बने हम ताँगे के से ऊँट
घरों में सब ही आश्रित, बन्द
एक ही पीता विष की घूँट

बहुत ही नीरस, वह संक्षुब्ध
किन्तु ममता का उमड़ा स्नेह
अरे, मैं सोच गया क्या व्यर्थ ?
एक मेरे ही आश्रित गेह

बाल - बच्चों का करुणागार
हृदय में स्फूर्ति भर गया प्यार
सुविह्वल, गद्गद् बारम्बार
स्नेह की गूँजी मौन पुकार

कर लिया उसने पूर्ण विचार
बेच पुस्तक भेजूँगा दाम
मनन, चिन्तन अब घर ही गान
खोजने जाऊँगा कल काम

●

चौथा सर्ग

तूफानों के ताण्डव में रे,
दुर्बल क्या लेता है?
जीवन की नौका निर्धन
पतवार बिना खेता है

वह नौका मझधार डूबती
पार नहीं पाती है
लहरें एक एक पर उठ कर
उसे डुबा जातीं हैं

घने तिमिर में नभ के तारे
ज्योति न कुछ दे पाते
अस्थिर, चञ्चल, झिलमिल झिलमिल
कहीं लीन हो जाते

उनकी आशाओं की भाषा
मूर्त न बन पाती है
अधरों पर मुस्कान लास का
कर न चयन लाती है

प्यासा है वह स्वयं, किन्तु जग
को जीवन देता है
बीत गये यों कितने ही
द्वापर, सतयुग, त्रेता हैं

सन्ध्या हो आती उदास नित
सतत उषा रोती है
अम्बर - तल की तारावलियाँ
बरसातीं मोती हैं

और धरा अञ्चल पसार कर
कर विलीन देती है
हरी - भरी अपनी गोदी में
उसे बीन लेती है

वह रुदन के गीत जाने
नवल कलियाँ विपिन भर की
सुरभियाँ जिस पर लुटातीं
नव उषाएँ सतत जिसके
सरस सुख - साधन जुटातीं
उस मृणालों पर भ्रमण - कर
भ्रमर की क्या प्रीत जाने?

नीड जिसका मधु विपिन की
सफल, पुष्पित डालियों पर
पन्थ जिसका स्वर्ण - सिञ्चित
पवन - शीतल, स्वच्छ अम्बर
उस विहग के पर्यटन की
वह करुण क्या रीत जाने?

सस्य से ले कल्प द्रुम तक
सिर सभी जिसको नवाते
शीत - मन्द - सुगन्धता - वश
विहग जिसके गीत गाते
चण्ड पावक के सखा उस
पवन की क्या जीत जाने ?

वह रुदन के गीत जाने

काराओं के द्वार सनातन
छिन्न भिन्न हो पाते
तो अगणित दुर्बल, निर्धन जन
यों न यहाँ से जाते

जहाँ गिद्ध रहते हैं चिड़ियाँ
चहक नहीं पातीं हैं
कीटों की की काली छाया से
कलियाँ मुर्झातीं हैं

दो मनुष्य, पर उनके जीने
मरने में कितना अन्तर है ?

एक ओर मधु बिखर रहा है
रस से उदर भरा जाता है
दिन में घी के दीपक जलते
तन पीवर निखरा आता है
उपमाताएँ, खेल - खिलौने
मन हरते रहते जी भर हैं

और दूसरी ओर तिमिर है
प्रजनन को सामान नहीं है
जाया भूखी, दूध, दही, घी
का कोई जल-पान नहीं है
चिन्ता है, दुख है, पीड़ा है
मरने का, जीने का डर है

एक ओर फूलों की शय्या
चाँदी का व्यापार मनोहर
स्वर्णाभूषण में ललनाएँ
सुरा-पात्र देतीं हैं भर भर
संसृति का ऐश्वर्य चिरन्तन
इधर उधर नीचे ऊपर है

और दूसरी ओर धरा है
खाने को दो ग्रास नहीं हैं
तन की लज्जा ढँक रखने को
फटे वसन भी पास नहीं हैं
पीने को जल, सोने को थल
नहीं कहीं तिनकों का घर है

एक ओर मुद्रा लुटती है
शाल-दुशालों की माया है
मलय-चिता है, नयी नयी
सौरभ से प्लावित मृत काया है
बड़े बड़े सैकड़ों, सहस्रों
प्राणी अर्थी के अनुचर हैं

और दूसरी ओर न अर्थी,
तन ढँकने को कफन नहीं है
शव को कहीं जला आने कुछ
तिनकों का भी तपन नहीं है
लाश उठा ले जाने को भी
पास न कोई आता नर है
दो मनुष्य, पर उनके जीने
मरने में कितना अन्तर है ?

कृमि कीटों की ज्यों जीते हैं कृश अगणित जन
जिनके तन-मन,गति-मति, चिन्तन पर चिरबन्धन
कला, कल्पना, ज्ञानों, विज्ञानों से वञ्चित
उदर-पूर्ति के लिए धान्य-धन-राशि न सञ्चित
जिनकी परछाँहीं पड़ना भी पाप महत्तम
अवलोकन अन्याय, पूर्व पापों का संगम
जिनका किंचित् स्पर्श स्वर्ग-नाशक, दुखदायक
शोषण धर्म सनातन, मोक्ष प्रवर, उन्नायक

गर्हित है उनके भूखे बच्चों का जीवन
उनकी सूखी माताओं के दुग्ध-रिक्त स्तन
नहीं प्राप्त कर सकता है चिथड़े भी कृश तन
काली इच्छाओं से जिनका भरा हुआ मन
रोटी के जूठे टुकड़ों पर बिकता यौवन
लूट लिया जाता है सारा जीवन-श्रम-धन
शोणित-शून्य धमनियाँ, भू के भार चिरन्तन
नष्ट कर दिया गया अहं, उनका अपनापन

वातायन अवरुद्ध, चतुर्दिक वीक्षण सीमित
सुरभि, पराग, प्रकाश, मुक्त आकाश अदर्शित
सीमा परिप्राकार, कठिन सञ्चार, भार घन
कर, पग, कटि, तट, कंठ बद्ध, मृतप्राय क्षीणजन

पुष्ट पंचदश जन के इंगित पर जग नर्तित
धर्म, कर्म, दर्शन, चिन्तन, ईश्वर परिवर्तित
नैतिकता, सभ्यता, मनुजता नभ निहारती
असुरों का साम्राज्य, पद-दलित हुई भारती

कल्पना, कला के अन्तर् में विष दिया घोल
तम के अवगुंठन को जन जन पर दिया खोल
साहित्य - भावना भ्रू-भंगों की क्रीतदास
शिक्षा इनके कर्तव्यों के आगे निराश

जिनके शोणित से निर्मित ये प्रासाद, धाम
जिनके शरीर-श्रम से इनकी उल्लसित चाम
उनको ही इनने दिये नीच, चाण्डाल नाम
क्या पाप और विश्वासघात का नहीं काम ?

इनने अगणित दुर्बल जन का सौभाग्य चोर
भर लिया स्वयं अपने ही घर का ओर-छोर
घी, दूध, दही, मथ कर आगे तृण दिये डाल
जन जन-प्राणान्तक, पर कहलाते हैं नृपाल ?

इनके मतलब का मंडल चारों ओर व्याप्त
पावन मानव को उसमें कुछ होता न प्राप्त
जो महास्वार्थी वह उतना ही श्रेष्ठ, आप्त
निश्छल केवल घुल घुलकर हो जाते समाप्त

धूर्तता, कपट के दुर्ग धरा पर महासीन
ईर्ष्या, अशान्ति की रीति-नीति से महापीन
अत्याचारों के शिखरों का सिर घूम-घूम
कर रहा भयंकर अट्टहास नभ-स्वान्त चूम

मिथ्या-सत्यों के भी इनने कर दिये भाग
जगती के सकल पदार्थों से कर लिया राग
व्यथितों के दुर्बल जीवन में भर भर विराग
युग-युग तक खेला फाग, उन्हें दे दिया त्याग

श्रमिकों के घर, श्रमिकों के घर
ये शूल धरे, ये धूल भरे
ये छिन्न-भिन्न-जीवन, जर्जर
ये तिमिर लिये उर में अपने
बुद्बुद् इनके स्वर्णिम सपने
हैं कनक-भवन-अन्वित जग में
ये दीन - हीन, दुर्बल, नश्वर
आतप नित इन्हें सताता है
हिम अविरल हृदय दुखाता है
जर्जर पञ्जर में से हो कर
जलधरी बरसती है झर - झर

ये चिर उदास, ये गतोल्लास
ये उन्मन उन्मन, शून्य-श्वास
नीरवता में खोता रहता
इनके प्राणों का पीड़ित स्वर
श्रमिकों के घर, श्रमिकों के घर

शोषक ! अब निद्रा त्याग, नहीं तो सर्वनाश !
जलमग्न नहीं तो होगा अम्बर का निवास !
ज्योतिर्लहरी की गति का देखो नृत्य नग्न !
मिट जायेगा अभिराम नहीं तो कनक-स्वप्न !

नरकों-स्वर्गों की सृष्टि, खंडशः हुई चूर
विज्ञान-ज्ञान का बहा ले गया उसे पूर
भूतों-प्रेतों की भीति रोकती प्रगति-द्वार
इन्द्रों की रास-सभा जीवन की बनी भार

अब छिन्न-भिन्न मिथ्या-प्रतीति के तार तार
नवयुग की पावन वेला की सन्तीक्ष्ण धार
कृश, गलित नीड़ जीवन में भरता है विकार
सत्वर होगा सन्नष्ट व्यर्थ, निष्फल, असार

रचो रे ! आज सृजन के गान !

आज हो गया नीड़ पुराना
छिद्र हुए उसमें भी नाना
बैठे गा न सकोगे गाना
करो पुनर्निर्माण !

आज तिरोहित ज्योति चिरन्तन
आज प्रभा पर मँडराये घन
दूभर आज हुआ सन्दर्शन
पन्थ हुआ अनजान

पहले अपना नीड़ बनाओ !
नयी पत्तियाँ, तिनके लाओ !
फिर चाहो रे, भरो-भराओ !
प्रतिपल स्वर्ण उड़ान !

खुलें कण्ठ, प्राणों के स्वर में हो नव सर्जन
मुक्त भाव कुञ्चित छन्दों का करें विसर्जन
नव चरणों की प्रगति करे निर्माण नया पथ
नव नयनों की दिव्य ज्योति में अंकित हो 'अथ'
रुकें नहीं, बढ़ें, बढ़ें

निराश भाव, दीनता, कठिन समाज-शृंखला
विचार-ज्ञान-शून्यता, कुभावना जला जला
पहाड़ियाँ, समुद्र, सर, कुपन्थ, गर्त पार कर
स्वतन्त्र शुद्ध ध्येय ले हिमाद्रि-शृंग पर चढ़ें
रुकें नहीं, बढ़ें, बढ़ें

अगाध विश्व- भावना, स्वतन्त्र स्वाभिमानिता
विवेक-स्वच्छता प्रखर, मनुष्यता, समानता
प्रतान सत्य के महा सुशील दिव्य शारदा
सुसंगठन लिये लिये विशाल नव जगत् गढ़ें
रुकें नहीं, बढ़ें, बढ़ें

तोड़ो, तोड़ो, विरह, मोह की अनुचित कारा !
लो कर में पतवार, तीव्र आने दो धारा !
खोलो, खोलो द्वार, वात को आ जाने दो !
नये अरुण की नयी ज्योति को मुस्काने दो !

गूँजो, गूँजो, आज धरा को हिल जाने दो !
सागर की लहरों को नभ से मिल जाने दो !
गिरि-शृंगों को टूट टूट कर गिर जाने दो !
प्रलय-घटाओं से अग-जग को घिर जाने दो !

आओ, आओ, करो, करो सागर का मन्थन !
काल-कूट-धारा पर उड़ जाने दो चन्दन !
जागो, जागो अब अम्बर की ओर न ताको !
विष की ज्वाला दौड़ रही है, दूर न झाँको !

बोलो, बोलो, कोटि-कण्ठ-स्वर खुल जायेंगे
नयी सुरभि में मधु गुञ्जन ज्यों घुल जायेंगे
बढ़ो; बढ़ो, रोको न प्रगति, पथ छा जाने दो !
हिमगिरि के शृंगों की सीमा पा जाने दो !

छिन्न करो ये पाश आत्मा अकुलाती है !
क्षितिजों की रेखा विकास को खा जाती है !
खुल जाने दो नेत्र तीसरा प्रलयंकर का !
छिल जाने दो सहस्रफन-मस्तक भूधर का !

हो आराध्य हमारा अब गोपाल चिरन्तन
जिसकी गौएँ ही जीवन, गौएँ ही तन, धन
जिसका शिव मन भी गायों के स्वर में मुखरित
भाव, कल्पना, भाषा दुग्ध - दही से सिञ्चित

जिसका जीवन बीते गौपालन में निर्मल
अविरल श्रम से नव्य वत्स-दल निर्मित चञ्चल
भर जाता धरती माता का वक्ष प्रफुल्लित
जिसके श्वेद-कणों से हरे-भरे मृदु भू-भृत्

जिसके मञ्जुल भाव धान्य को करें पल्लवित
दिव्य कल्पना शष्प गुच्छ में हँसे, उल्लसित
भाषा खगमृग के अन्तर्-भावों में मिश्रित
चिन्तन जन जन के अभिनव जीवन से चर्चित

दुग्ध, दही, घृत जन-जीवन को करे समर्पित
बिखराता धन धान्य-राशि अभिराम अदर्पित
मांसल श्रम परिपुष्ट बनाता जन जन का तन
विश्वराट्, स्रष्टा विराट् भरता घर घर धन

पीड़ा, बाधाओं के गिरि को करता धारण
शक्ति-कुशलता से व्याकुलता करे निवारण
जिसके स्वर में वंशी-रव जैसा सम्मोहन
संसृति के शाश्वत तत्त्वों का करता दोहन

नहीं मनुजता जिसके कर्मों से भय-भीता
प्रेम, त्याग की गूँज रही उर में संगीता
अगणित ऊपर-खण्डों के शतफन पर नर्तक
धान्य-कीट-कुल-कंसों के जीवन का कर्तक

जो जग के कलुषित कर्कट का कर सम्पादन
परिवर्तन में दे जीवन-पोषक नव्यादन
न्यौछावर करता निर्धनता पर वैभव, धन
स्नेही, सन्तोषी रख लेता कुछ अक्षत-कण

जिसके श्रम का चलता रहता चक्र अनवरत
शूल कण्टकों, जञ्जालों को कर शत शत क्षत
भाग्य-विधाता, जीवन-दाता, उच्च किन्तु नत
सौम्य, शान्ति-प्रिय, उदारचेता, चिदानन्द सत्

जिनको हम अस्पृश्य समझते नीच, शूद्र जन
वे भी होवें तुल्य, एक कुल के से परिजन
उनसे नव शिक्षा लें धर्म, कर्म की सुन्दर
नव युग के सर्जन का भार धरें कन्धों पर

वे सच्चे सर्जक हैं, निर्माणों की प्रतिमा
दुर्लभ उनके पावन चिन्तन की सी गरिमा
उर उदार, ऊँचे विचार, है सादा जीवन
मन्त्र मूल 'चरवैति' सतत 'चरवैति' चिरन्तन

बह जाये संस्कृति का कुत्सित नीर अचञ्चल
ढह जायें कर्कश कगार धारा में गल-गल
सुरभित हो जाये दिगन्त का व्याकुल अन्तर
मौक्तिक आभा में छाये संस्कृति तदनन्तर

मानव के प्रति मानव की हो जाये ममता
पिछड़े मानव प्रगति-शील की कर लें क्षमता
मनुजों के उत्थान, प्रगति में खोवें मानव
स्नेह, राग, निश्छलता से भर जाये नव भव

जन्म सिद्ध अधिकार सभी का स्वतन्त्रता, हों सभी समान
दिग् दिगन्त तक, जगत्-अन्त तक फैलें निर्मल सत्य प्रतान
एक साथ, सब एक स्वरों में गायें बस अब यह ही गान
स्वतन्त्रता का अमृत पीकर अमर रहे यह विश्व महान

सोच रहा वह, अन्धकार में खोया जग का ज्ञान जगाऊँ
पूर्ण शक्ति से, क्रान्ति-स्वरों में, जागृति की झंकार उठाऊँ
युग-युग से संपीड़ित, जर्जर, क्षीण, हीन तब जगती जागे
युग-युग से भूखे मानव की, प्रबल पिपासाएँ तब भागें

●

पाँचवाँ सर्ग

सोचा करता प्रत्येक व्यक्ति
जीवन क्या है, क्यों सुख विरक्ति ?
कैसे दुख का परिहार और
क्या कोई अन्य अदृष्ट शक्ति ?

किस भाँति सुखी होवे जीवन
इस जीवन के पीछे निःस्वन
क्या कोई ऐसी सत्ता है
जिसका जीवन पर चिरबन्धन ?

सुख क्या है, क्या है दुख-चिन्तन
उल्लास - हास, क्रीड़ा-क्रन्दन ?
क्या करते हैं ये जीवमात्र
सत्ता के इंगित पर नर्तन ?

मानव को करने में प्रशस्त
कितना अदृष्ट का दीर्घ हस्त ?
किस आश्वासन से ग्रहण करें
जीवन के सुख-दुख अस्त-व्यस्त ?

जीवन के क्या आदर्श उच्च ?
क्या जगती की वस्तुएँ तुच्छ ?
क्या धर्म, बिना इसके मानव
क्या पशु कोई गतशृंगपुच्छ ?

जग की उत्पत्ति, विकास-ह्रास
तक का रखकर इतिहास पास
दौड़ाने पर भी सूक्ष्म दृष्टि
पलपल,प्रतिक्षण,प्रतिदिवस,मास

इस संसृति में नित प्रवहमान
उस अमर, अनादि, अजर,महान
स्वर्गीय शक्ति के सञ्चालन
का होता है कुछ भी न भान

यदि ज्ञान-स्वरूप अमर अनन्त
कोई अनादि है शक्ति सन्त
तो संसृति का उद्देश्य एक
कर नियत चलाती एक पन्थ

परिवर्तनशील सतत यह जग
परिवर्तन रखता पग पर पग
ऐसी स्थिति में शाश्वत सत्ता
डगमग डगमग ले तममय मग

जग की गति के ही साथ रपट
चलना आवश्यक पूर्ण झपट
पर, शाश्वतता पीछे रखती
संसार - चक्र जाता क्या डट ?

पीछे जाते हम स्वयं पिछड़
पीले पत्ते मिटते झड़ - झड़
पर, प्रगतिशील समयानुकूल
फूलती और फलती है जड़

पीछे की ओर ओर धावन
है महा असम्भव, गति पावन
मन की अतीत-आसक्ति नयी
धारा का कब करती वाहन ?

जितनी भी उन्नति और प्रगति
उनको पहुँचाता ईश्वर क्षति
मानसिक दासता की कारा
से मानव की होती दुर्मति

उठता रहता यह सतत तर्क
भगवान न यदि, तो सोम अर्क
इस जगती का रचयिता कौन ?
कोई तो सर्जक है, न फर्क

प्रत्येक वस्तु का निर्माता
क्या आवश्यक माना जाता ?
तो फिर ईश्वर का भी सर्जक
है कौन, कहाँ उसका धाता ?

यदि पूर्ण, स्वयम्भू है ईश्वर
कर्ता, धर्ता, हर्ता, पीवर
तो संसृति के बारे में भी
हो सकता है यह ही उत्तर

जब आदि काल में मनुज वन्य
विद्युत, पावक, पर्जन्य अन्य
अपरिचित स्थान, प्रकृति इनसे
भय खाता था व्याकुल अनन्य

पर्वत सा विस्तृत अन्धकार
मन में भरता था भय अपार
रच ली सविता, अर्यमा, इन्द्र
की मूर्त कल्पना दुर्निवार

यज्ञों में होने लगे गान
देवों को देते सोम-पान
नर, वत्स, तुरग के स्वादु मांस,
रुधिरों से करते देव स्नान

भय के कारण ईश्वरोत्पन्न
आधार मिला, मानव प्रसन्न
विभु भी बदला समयानुसार
जब चले ताम्र अय, स्वर्ण, अन्न

शत शत वर्षों तक यों असार
अत्याचारों का कुछ न पार
विभु का ले ले कर नाम मनुज
भरता आया जग में विकार

बह चली रक्त की सरिताएँ
मानव की दूषित इच्छाएँ
चारों कोनों में फैल गयीं
हत्या, पैशाचिक उल्काएँ

इस पर भी वह शाश्वत ईश्वर
यों देख पाप निज नामों पर
अब तक न रोकने को आया
इससे ज्यादा भी क्या उत्तर ?

यदि ईश्वर का है मनुज अंश
तो वह भी शाश्वत है अध्वंस
शाश्वत नर का शाश्वत समाज
शाश्वत सारा संसार-वंश ?

शाश्वतता करती कण्ठ रुद्ध
विकसन जीवन का रूप शुद्ध
शाश्वतता स्थिर है, सीमा है
विकसन असीम, प्रकृतिक, बुद्ध

जो मन, वाणी से दूर रहा
दृग, कर्ण आदि से परे महा
उसका अनुभव के जीवन में
आ सकने का सम्बन्ध कहाँ ?

आडम्बर वाले ये पण्डित
सब वैभव वालों से खण्डित
ऊँचे ऊँचे मन्दिर इनके
पूँजीपतियों से ही मण्डित

ये स्वयं बद्ध हैं, कहाँ मुक्त ?
ये स्वयं नहीं हैं धर्म-युक्त
सेवक की ज्यों ये स्वामी का
भोजन करते उच्छिष्ट, भुक्त

इनके उद्गारों का ग्रन्थन
ठग-विद्या है, धन का मन्थन
स्वयमेव नहीं स्वाधीन, कहाँ
औरों का काट सकें बन्धन ?

वे चिरजीवी होते न भाव
जिनमें केवल आग्रह - स्वभाव
जो बुद्धि-विरोधी मत, विचार
होते विलीन ज्यों पत्र-नाव

अणु अणु में जिसके भिन्न रूप
संसृति का वह सच्चा स्वरूप
हैं जीव मात्र सब सत्य-अंश
वह सत्य प्रवाहित, है न स्तूप

समतल समाज जो मुक्त, शुद्ध
सत् है, ईश्वर है, स्वयं बुद्ध
सत् से अनुप्राणित चिदानन्द
जिसके कण्ठों का स्वर न रुद्ध

ऐसा समाज न सके विराज
जिसमें धनिकों का रहे राज
विद्रोह-नृत्य होता उसमें
प्रलयों का जुटता साज-बाज

जैसी समाज की स्थिति भौतिक
अस्तित्व, दशा होंगे परिदिक
वैसे सिद्धान्त विचार और
भावना, कल्पना ध्यान अडिग

अस्तित्व न निश्चय पाती
मानव की कभी चेतना वर
पर, उसकी सामाजिक स्थिति ही
बनती है सदा चेतना-स्वर

उन सिद्धान्तों का युग बीता
धूमिल चिन्तन का स्वर रीता
युग युग के दारुण बन्धन में
मुर्झायी भावों की ग्रीवा

प्राचीन कल्पना की माला
तनती मृत हित का ही जाला
अब वह विकास में, उन्नति में
अविराम लगाती है ताला

जीवित रहने को यदा तदा
धन, शक्ति उत्तरोत्तर सुखदा
निस्सीम शान्ति के लिये मनुज
करता आया है यत्न सदा

करने को यह उद्देश्य पूर्ण
आदर्श - धर्म - कर्तव्य - घूर्ण
जीवनी शक्ति के लिये सतत
इनका करता वह रहा चूर्ण

प्राचीन जीर्ण परिस्थिति निष्फल
बन गयी आज जड़ गति चञ्चल
केंचुली बनी मानव - समाज
कर चुका ग्रहण सब सार विमल

धारा में तिरती हो नौका
यदि उसको डाँड लगा रोका
तो विषम अवस्था, भ्रमरों का
ले डूबेगा उसको झौंका

ईश्वर पर, धर्म - दुहाई पर
शोषण है पीड़ित भाई पर
इसलिये धर्म का, ईश्वर का
हो शुद्ध चुनाव सचाई पर

जो आज उचित, वह कल अनुचित
यदि आज कृष्ण, तो कल है सित
उचितानुचितों का यह ग्रन्थन
आवश्यकता पर ही आश्रित

यह उचित नहीं है एक ओर
छप्पर का भी होवे न छोर
यह अनुचित है अत्यधिक भूमि
पर किञ्चित् जन का रहे जोर

है नहीं स्वयं धनिकों का धन
अधिकारी हैं समाज - जन - जन
यह न्याय न, वे खिलवाड़ करें
उससे जैसा जब चाहे मन

ऐसे कृत्रिम सम्बन्ध मलिन
ये बने रहेंगे दिन-प्रतिदिन
तब तक न पुनर्रचना समाज
की होगी रागात्मिका कठिन

यह आवश्यक, ये सब साधन
जो वितरण, विनिमय, उत्पादन
इन पर अधिकार रहे सबका
सबका ही हो मधु आराधन

विश्वास नहीं होता विभु पर
यदि सचमुच संसृति में ईश्वर
तो दुखियों को दुख देने में
आता आनन्द उसे क्यों कर ?

वह 'बड़ा दयालु' कहें जन जन
रक्षक है, पिता, भक्ति-बन्धन
उद्यान फला - फूला उजाड़
हर्षित होता, कैसा है मन ?

ईश्वर इच्छा के बिना पलक
गिरती न, न हिलता पत्ता तक
तो क्यों वह फिर अन्याय सदा
हमसे करवाता रहे अथक ?

भावों की छलना, यह प्रपञ्च
गोरख-धन्धा, आकाश-मञ्च
करते न कर्म कलुषित, कहते
अगले जन्मों के पाप-पुञ्ज

विश्वास नहीं होता कल पर
दृग कर लेते कच्चे फल पर
खा लेते हैं, पा लेते हैं
पीड़ा पाता जब दुखी उदर

ऐसा ही अपना भाग्य कहें
पीड़ा असह्य चुपचाप सहें
करते न कभी उपचार जरा
ऐसे ही रोते नित्य रहें

हम नहीं सोचते भूलों पर
झूलते दूर के झूलों पर
कैसे तट पा सकते हैं जब
सोचते खड़े ही कूलों पर ?

कहते हैं, भौतिक हैं, सुख-दुख
प्रतिक्षण परिवर्तित इनका रुख
तो अजर अमर विभु से इनका
सम्बन्धित कैसे है आमुख ?

कर्मों, भाग्यों के गठ-बन्धन
सामाजिकता के ही स्पन्दन
जो सबल हुआ वह जीत गया
जो दुर्बल, वे करते क्रन्दन

दो भागों में बँट गया द्वन्द्व
दुख की, सुख की दो हुई गन्ध
जो धूर्त, नीच वे हुए अधिप
कुछ समझ न पाये हीन, मन्द

ऐश्वर्य लूटते ये तस्कर
औरों को कहते जग नश्वर
दुख-सुख, ईश्वर, आदर्श, भाग्य
कर दिया पाप-पुण्यों का डर

जीवित रहना, यह प्रथम कर्म
मानवता ही है मुख्य धर्म
शिक्षा, दीक्षा, घर स्वच्छ, सभी
साधन समान, यह सूक्ष्म मर्म

सब ही के सुन्दर रहें भवन
पौष्टिक भोजन, हो स्वच्छ पवन
निर्मल जल, ज्ञान-वृद्धि, रञ्जन
के सम साधन, होवें न हवन

करना होगा समाज स्थापित
जिसमें कोई न रहे तापित
नर का, समाज का संशोषण
रुक जाय, न हिंसा हो शापित

प्रति मानव की आवश्यकता
प्रत्येक मनुज सत्ता रखता
सामूहिक जीवन सबका है
क्या झाड़ूवाला, क्या वक्ता ?

जो व्यक्ति कमा कर है खाता
सामूहिक जीवन से नाता
उसके सुख-दुख का भार, क्षेम
समुदाय, संघ पर ही आता

जिस तरह हवा पर, पानी पर
वर्षा पर, ग्रीष्म, हिमानी पर
अधिकार, किसी का राज्य न, त्यों
धन का आभार न दानी पर

एकाकी रह सकता न मनुज
उन्नति करते हैं शत शत भुज
सामूहिक बन कर रहना ही
पड़ता उसको, वह नहीं अयुज

होने पर भी मत-भेद अथक
नर - जीवन - रक्षण आवश्यक
यदि मानव जीवित रह न सके
तो क्या आदर्श, धर्म, हवि, मख

रक्षण की वृत्ति विशद् विराट्
ले जाती सतत विकास-घाट
संकुचित वृत्ति सामूहिकता
का कलुषित कर देती ललाट

यदि एक व्यक्ति का पूर्ण स्वार्थ
एक ही व्यक्ति होता कृतार्थ
तो संघ-नाश का पूरा भय
समुदाय-स्वार्थ ही सत्य, सार्थ

प्रत्येक व्यक्ति का ही जीवन
करता है सतत समाज-वहन
समुदाय-अहित, हित, भला-बुरा
इससे न पृथक् उसका निजपन

रह सके न जीवित मनुज पृथक
आदिम युग से लेकर अब तक
इतिहास विजय का मानव की
जो सामूहिक, समुदाय-कथक

प्रति नयी व्यवस्था का अंकुर
प्राचीन - व्यवस्था - गर्भ - प्रचुर
कोई भी नयी व्यवस्था कुछ
स्थापित न बिना इसके अंशुर

यह मनुज-जाति ही नहीं सकल
सब जीव-जाति परिवार विमल
ऊँचा - नीचा कोई न यहाँ
हैं बन्धु, स्वजन, सब सत्य, अटल

संसृति के भौगोलिक विभाग
एक ही गीत की भिन्न राग
जैसे हों पृथक् पृथक प्रकोष्ठ
ज्यों विविध सुमन का दीर्घ बाग

परिस्थितियों में मानव बनता
जिनमें वह रहता है छनता
परिस्थितियों का वह स्वयं अंग
उनके इंगित पर ही तनता

कर सकता उन्हें प्रभावित पर
परिवर्तित भी कर सकता स्वर
वह नहीं पुत्तला किसी शक्ति
का, नहीं खिलौना मनुजेतर

वह तो समाज का, इस जग का
स्रष्टा है संसृति के मग का
वह नहीं किसी कल का पुर्जा
वह अधिप विराट् स्वयं भग का

जीवन के संरक्षण-विकास
के लिये मनुज ने रचा वास
साधन था पहले तो समाज
हो गया किन्तु अब कठिन पाश

अपनी जीवन - आवश्यकता
यदि मानव पूरी कर सकता
तो वनचारी पशुओं की ज्यों,
मिलता समाज का कुछ न पता

मानव ने यह अपना सर्जन
कर डाला है ऐसा अर्जन
समुदाय-हेतु ही वह जल थल
अम्बर में करता है गर्जन

अन्तर-विरोध-मय विकसन-पथ
क्रमशः चलता विकास का रथ
जब एक अवस्था की इतिश्री
तब खुलता अन्य द्वार ले अथ

होता विकास का बन्द द्वार
तो परिवर्तन उठता पुकार
करता आया मानव विकास
ढो सके न वह प्राचीन भार

प्राचीन व्यवस्था की गति द्रुत
पूरे स्तर पर पहुँच कर च्युत
पूर्वज समाज के भीतर ही
नव बीज स्वयं रहते प्रस्तुत

गतिशील नवल विचार, नव मत
देते समाज को प्रगति महत
अग्रग सुशक्ति का हित-साधन
करने में ही वे रहते रत

जिसमें प्रत्येक जीव, जन का
सत् रक्खा जाय ध्यान मन का
वह ही स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता
बाकी ढकोसला बन्धन का

शोषक - शोषित का भेद-भाव
शोषक का सर्व मिटा प्रभाव
प्रत्येक उपज, साधन पर हो
सबका स्वामित्व बिना दुराव

जितने भी जन, जैसा है मन
योग्यता, बुद्धि, शिक्षण, चिन्तन
वैसा ही काम बाँटने पर
अनुभव होता है अपनापन

आवश्यक चीजें उपयोगी
जीवन से जो जायें भोगी
उनका समान वितरण हो तो
सब हृष्ट पुष्ट, क्यों हों रोगी ?

यन्त्रों से जो अवकाश शेष
उसमें घूमें सब देश देश
अनुभूति प्रखर हो, ज्ञान बढ़े
जिससे प्रकाश का हो प्रवेश

कोई न कूप-मण्डूक रहे
विश्वैक्य-भावना लिये बहें
मानव-विवृद्धि के प्रगतिशील
नूतन प्रवाह में दोष ढहें

जब वर्ग-भेद का साज-बाज
हो नष्ट, बनेगा नव समाज
डूबेगा भावी, वर्तमान
दुश्चिन्ताओं का तब जहाज

तब मानव-जीवन शान्तिवान
सन्तोष-सौख्यमय, कान्तिवान
होगा तब समता-पूर्ण प्रेम
सम्वेदन-शील जगत् महान्

पायेगा जन प्रत्येक काम
नंगों-भूखों का लुप्त नाम
सत्शिक्षा का व्यापक प्रबन्ध
उद्यान, संग्रहालय, विराम

सपना होवेगा कलह, द्वेष,
प्रति नारी का सुसतीत्व-वेश,
वैयक्तिक स्वार्थों की समाप्ति
साहित्य, कलाओं का प्रवेश

करते निशीथ तक यों चिन्तन
शय्या पर भूल गया कब मन
उसको कुछ ज्ञात न हो पाया
चिन्तना-चक्र को किये वहन ?

•

छठा सर्ग

चिड़ियों की टोली झुरमुट में
चूँ चूँ चूँ चूँ चूँ गाती थी
कौवों की पञ्चायत बैठी
पेड़ों पर शोर मचाती थी

मटरों की फलियों पर अपना
अधिकार नहीं क्या कोई भी ?
पञ्चायत का था विषय यही
अन्याय नहीं क्या कोई भी ?

तोतों को था यह एतराज
क्यों हमे विमोही कहते हैं ?
ये बिना मुरव्वत लोग स्वयं
नर पक्षपात क्यों करते हैं ?

धीरे धीरे दिनकर थक कर
निज शयन - कक्ष में जाता था
खलिहानों बीच 'सुजान भगत'
अपना अनाज बरसाता था

गाता था पास भिखारी वह
जो खाली चला गया घर से
मन भर अनाज की भिक्षुक को
बाँध दी पोटली निज कर से

पञ्चायत बैठी उधर जहाँ
'खाला' दुख - कथा सुनाती थी
'चौधरी' पञ्च परमेश्वर की
जो जय जय कार मनाती थी

वह पास 'शेख' भी बैठा था
जो 'मौसी' का धन हड़प रहा
चौधरी 'शेख' का मित्र, किन्तु
परमेश्वर बन कर कड़क रहा

खेतों से लौट रहे थे सब
अम्बर में धूआँ छाया था
कोई दुहता था दूध और
कोई चारा ढो लाया था

ग्रीवा की घण्टी बैलों को
चञ्चल और भी बनाती थी
चारों कोनों से गाय - भैंस
ऊँटनी, बकरियाँ आतीं थी

मिट्टी उड़ उड़ कर अम्बर में
अपना प्रभाव थी जमा रही
कृषकों की ललनाएँ घर में
भोजन - सामग्री जुटा रहीं

कितने ही तरुण कृषक अपने
'अलगोभों' में स्वर भरते थे
दिन भर के श्रम को रागनियों
की मादकता से रहते थे

में 'में' भ्या 'भ्या' आँ 'आँ' चह 'चह'
टर 'टर' कोलाहल छाया था
रेवड़ वाला बकरी - भेड़ों
को अभी नहीं गिन पाया था

छप्पर 'छानें' जो सूने थे
वे डूब रहे कोलाहल में
कोई गाड़ी था हाँक रहा
कोई के हाथ रुके हल में

यों देख देख कर सुघर दृश्य
आनन्दाकुल हो आता था
'धनपति' अपना चिरपरिचित,पर
अब 'प्रेमचन्द' कहलाता था

कितने सात्विक हैं गाँव यहाँ
अन्याय, झूठ का काम नहीं
धोखेबाजी, चोरी, ईर्ष्या
धूर्तता, ठगी का नाम नहीं

घी, दूध, दही की धार यहाँ
बारहों महीने बहती है
सुख - दुख में एक दूसरे के
कितनी तत्परता रहती है

यदि कहीं किसी के आग लगी
तो सब ही दौड़े जाते हैं
बाँसुरी, वीणा, अलगोझों में
कैसा संगीत सुनाते हैं ?

प्रातः—वेला में मा - बहिनें
चक्की में राग मिलातीं हैं
कितने उत्साह, प्रेम से ये
घरमें आहार बनातीं हैं ?

गोबर की स्वच्छ लिपाई से
घर भर को माँजा जाता है
त्यौहारों, पर्वों पर इनका
जीवन कितना सुख पाता है ?

कुश्ती, दंगल होते रहते
क्या कोई है कमजोर यहाँ ?
मा - बहिनों की इज्जत करते,
कोई न रूप का चोर यहाँ

त्यौहारों पर हर्षित होना
ये जीवन के शुभ लक्षण हैं
जिसमें जितना जीवन होता
उतना प्रसन्न वह तत्क्षण है

ये भोले भाले, सीधे हैं
इनमें कुछ कहीं दुराव नहीं
शहरों के लोगों की ज्यों कुछ
इनके संकलुषित भाव नहीं

शहरों में भ्रष्टाचार अधिक
नैतिकता- स्तर गिर आया है
धँस रही आँख, पिचके कपोल
निर्जीव, शून्य, कृश काया है

लम्बे लम्बे रख बाल-जाल
'बाबू जी' पान चबाते हैं
पर, एक कोस चलना हो तो
मस्तक में चक्कर आते हैं

झूठा नकलीपन, विलासिता
पूरे दुश्मन आजादी के
ये उन्नति के आधार नहीं
साधन सारे बर्बादी के

आजादी त्याग, तपस्या के
सम्बल पर ही टिक पाती है
औरों की तुच्छ नकल निष्फल
नीचे - नीचे ले जाती है

जीवन का निर्मल निर्झर तो
इन गाँवों में ही बहता है
जिसकी कल-कल में मनुजमात्र
जीवन भर पावन रहता है

कच्ची सुन्दर झोपड़ियाँ हैं
पीपल, नीमों की छाया है
कूएँ का ठण्डा पानी है
कलरव की मीठी माया है

प्रत्येक मनुष्य उदार यहाँ
सच्चा आदर, सत्कार यहाँ
प्रत्येक व्यक्ति में प्यार यहाँ
हो रहा न जीवन भार यहाँ

बागों में कृत्रिम फूल नहीं
कल्पना स्वस्थ, निर्मूल नहीं
है नहीं निराशा-कूल कहीं
आधार, चिरन्तन मूल मही

इन सीधे - सादे लोगों पर
पद-लोलुप रोब जमाते हैं
कोड़ों से मार-पिटाई कर
सारा वैभव ले जाते हैं

दो कोड़ी के खोटे जन भी
इनकी इज्जत ले लेते हैं
सारी दरिद्रता जग भर की
काले - कपटी दे देते हैं

ये अन्न सदा पैदा करते
पर, बच्चे भूखे सोते हैं
दानों दानों के लिये कृषक
आत्माभिमान सब खोते हैं

इनकी माताओं, बहिनों की
इज्जत का यहाँ सवाल नहीं
जो आता है, ले जाता है
क्या ऐसे भी कंकाल कहीं ?

देते देते ही व्याज स्वयं
भिखमंगे बन रह जाते हैं
निर्माता नंगे फिरते हैं
वञ्चक ये मौज उड़ाते हैं

दीनों - दुखियों का रक्त चूस
पैसों का सञ्चय होता है
शत शत, सहस्र मुद्रा शोषक
वेश्या - सेवन में खोता है

ये भूल रहे हैं अपनापन
इन पर आघात भयंकर है
जीवन विनाश के अञ्चल में
सम्भार बड़ा प्रलयंकर है

इनके दुख - दर्दों को कोई
सुनता न कहीं, कुछ न्याय नहीं
हन्ता बलियों के बकरों की
लेता है जैसे राय नहीं

ये डूब रहे हैं, तड़प रहे
जीवन के लिये पुकार रहे
सामन्त, महाजन लिये तीक्ष्ण
अपनी अपनी तलवार रहे

पर, जग-स्रष्टा साहित्यकार
कामिनियों पर मँडराते हैं
चाँदी के कुछ ही टुकड़ों पर
अपना ईमान लुटाते हैं

धरती पर रहते हैं लेकिन
अम्बर में नीड़ बनाते हैं
दुनियाँ के भाग्य बिधाता बस
अपने को ही बतलाते हैं

कहते हैं, गीत चिरन्तन हम
शाश्वत जगती के गाते हैं
पीड़ित की करुण पुकारों पर
लेकिन दृग नहीं घुमाते हैं

कण्टीले वृक्षों, झोंपड़ियों
में क्या कोई सौन्दर्य नहीं?
सूखे पत्तों, पशु, घास-फूस
बाड़ों में क्या माधुर्य नहीं?

क्या स्वर्ण-धाम की छवि सारी
नीरज-कुल में ही बसती है?
मिट्टी के गाँवों, खेतों पर
क्या उषा नहीं कुछ हँसती है?

ग्रामीणों ने संज्ञा खोयी
ये नकली बनते जाते हैं
उत्सव, त्यौहारों पर उधार
ले ले कर स्वर्ण लुटाते हैं

पितरों को पानी, गौ देते
अपनी स्थिति की पहिचान नहीं
मृतकों की राख सजाते हैं
रहने को स्वयं मकान नहीं

घी, दूध, दही, अमृत दे कर
शहरों से विष ले आते हैं
ऊँचे - नीचे के भेद-भाव
से घुटते हैं, मिट जाते हैं

जिसमें 'धनपति' रहता कुटिया
आँखों के आगे आती थी
शहरों की नग्न विषमता का
जो चित्र खींच रह जाती थी

गन्दगी, कीच, कूड़ा, कर्कट
दैनिक जीवन के अंग बने
मल-मूत्र और बलगम, कफ के
ही चारों ओर प्रसंग घने

पग धरने तक को जगह नहीं
कितना छाया कोलाहल है ?
पों पों 'भों भों' ढम ढम 'पी पी'
'सी सी' में भरा हलाहल है

सिगरेट, सिनेमा, बीड़ी का
ही धूँ आधार प्रचार घना
अश्लील गीत, जूआ, कतरी
कोई भी कर पाता न मना

चकलों के चक्कर, मदिरा में
सर्वस्व राष्ट्र का लुटता है
कोढ़ी, अन्धे, लँगड़े, मक्खी
की भिन्न भिन से दम घुटता है

पाखण्ड, झूठ, अवमान घृणा
आसुरी वृत्ति का नाच वहाँ
गर्भों की हत्या, बलात्कार
की हो पाती है जाँच कहाँ ?

है जन्म नरक के कुण्डों में
नरकों में जीवन गलता है
जूठे टुकड़ों के लिये सदा
कितना कृश पेट मचलता है ?

ईश्वर के मन्दिर में वेश्या
का नंगा नाच खराब नहीं
क्या वे अछूत हैं; पापी हैं
जिनके मुख पर कुछ आब नहीं ?

मन्दिर में भैंसों - बकरों का
क्यों खून चढ़ाया जाता है ?
सामन्ती - महाजनी - शासन
ब्राह्मण का कैसा नाता है ?

जागीरदार कटु तुलाधार
अन्याय, पाप से काले हैं
सभ्यता और संस्कृति - धारा
में ये संकीर्ण पनाले हैं

सामन्ती सत्ता, बणिक - स्तम्भ
का मूलोच्छेदन करना है
जो कोटि कोटि जन दीन - हीन
उनका बन्धन, दुख हरना है

वह ग्राम-स्कूल में अध्यापक
बच्चों को वहाँ पढ़ाता था
ग्रामीणों की ही बस्ती थी
इसलिये सभी से नाता था

निर्धन शिशुओं की दशा देख
उसका अन्तर् भर आता है
उनके कण्टकमय जीवन को
अपने जैसा ही पाता था

उनके भविष्य की चिन्ता थी
पाठन में पूरा ध्यान किये
हो सकते ये भी महामनुज
अद्भुत उत्साह महान लिये

नीचा न समझता कभी, किन्तु
प्रेरणा निरन्तर देता था
उज्ज्वल प्रकाश की नौका को
उनके हृदयों में खेता था

वह अशन-वसन की हीन दशा
उसको विह्वल कर देती थी
भावुकता की ऊँची उड़ान
उनको अञ्चल में लेती थी

त्यौंहारों पर होने वाला
वेश्या का नाच पसन्द नहीं
कल्पना ग्राम पर मँडराती
लेखनी जरा भी बन्द नहीं

अत्याचारी अधिकारी की
भूलता कभी करतूत नहीं
प्रत्येक कहानी में कोई
रह पाती छूआछूत नहीं

सब के ही घर से वह सहर्ष
उनके बच्चे ले आता था
करता सहायता यथाशक्ति
जो कुछ भी वह कर पाता था

हीनावस्था, मृत भावों में
वह अम्मन्यता भरता था
सद्भाव, साम्य के अञ्चल में
प्राणों का निर्झर झरता था

ताड़न उसको न कभी भाया
रखता था मन का ध्यान सदा
लगता था अच्छा नहीं उसे
ऊँचेपन का सम्मान सदा

ये कृषक परस्पर लड़ते हैं
झगड़ों का कुछ आधार नहीं
निस्सार आत्ममन्यता और
ईर्ष्या - द्वेषों का पार नहीं

इनके पागलपन से पापी
लोगों को अवसर मिलता है
जड़ छिन्न - भिन्न हो जाने पर
तरु क्या अम्बर में खिलता है ?

अमले, कारिन्दे, बैरिस्टर
इनकी जड़ता पर पलते हैं
इन पर ही आश्रित, जीवित पर
इनको ही सदा कुचलते हैं

नीचों की सेवा करते हैं
मूर्खों की ठोकर खाते हैं
अपनापन, अपनी भूलों को
ये नहीं जान कुछ पाते हैं

ये स्वयं बन्धुता भूल रहे
शहरों में खिंचते जाते हैं
जिनका अपना स्वामित्व रहा
वे पथ पर लाज लुटाते हैं

मानवता ही है वन्दनीय
पीड़ित ही मुझको प्यारा है
पावन करने को मानस में
गंगा - यमुना सी धारा है

अभिमान जाति का जड़ता है
पागलपन है, नादानी है
मानव-पिशाच के अन्तर् की
तममयी विषम शैतानी है

ऊँचे - नीचे के भावों ने
मानवता को बदनाम किया
मानव की प्रगति, विकासों को
स्वाहा करने का काम किया

अपनी काली करतूतों से
गर्हित दुर्जन सुख पाता है
भूखा मरता है अध्यापक
जो जग का भाग्य-विधाता है

यह महाजनी सभ्यता और
सामन्ती सत्ता मुस्काती
अध्यापक की चिन्तना, कला
नव ज्योति यहाँ लूटी जाती

सागर की चञ्चल लहरों में
दुर्बल नौकाएँ खोतीं हैं
तुम निर्माता, फिर बन्धन क्यों
अध्यापक ! तुम्हे चुनौती है !

जागो, जागो ! भागो न दूर
वाणी में तुम हुंकार भरो !
पीड़ित, व्यथितों में नवयुग के
नव जीवन का सञ्चार करो !

सातवाँ सर्ग

अम्बर के विस्तृत अन्तर् में
घूर्णित निशीथिनी लिपटी थी
कजरारी आँखें सिमटी थी
था ढीला-ढीला सा नत तन
गति रह न गयी कम्पन-स्वर में

वासों में लौट रहे तमचर
उनकी समाप्त थी अठखेली
नित्य की भाँति 'जुम्मन' तेली
उठ गया, बैल को दिया बाँध
कोल्हू करने था लगा चचर

खाँसने लगा था 'महादेव'
'गुरुदत्त सत्त' की टेर लगी
बाहर जाते कब देर लगी ?
लोटा, धोती ले स्नान - ध्यान
को दौड़ा जाता वह सदैव

सानी कर रहा 'सुजान भगत'
गौ-जन का गोबर छाँट रहा
हल की कृश रस्सी बाँट रहा
बैलों को चरा-पिला दौड़ा
खेती को, पर सो रहा जगत

गुनगुना रही 'पीसन हारी'
मन में कूआँ बनवाने की
चिन्ता न उसे दुख पाने की
चोटी से लेकर एड़ी तक
बहती श्रम-स्वेदों की धारी

दुखिया 'बेटों वाली विधवा'
कलशा सिर पर ले जाती थी
गंगा से पानी लाती थी
पति के रहते वह रानी थी
पर, अब तो उल्टी बही हवा

जगती थी पहरों से 'काकी'
आँखों में नींद हराम हुई
पिल-पिल सी तन की चाम हुई
सूझता नहीं, अब इच्छाएँ
खाने पीने की भी बाकी

अविरत खुर्राटे खींच रहे
मोटे 'शास्त्री जी' सोते थे
मीठा अवसर कब खोते थे ?
तब ही कुछ कुछ थी आँख लगी
रात भर तोंद को भींच रहे

मन्दिर में दीपक जलता था
थी आर्द्र पुजारी की कण्ठी
बजने को आतुर थी घण्टी
निःशुल्क भीड़ थी भक्तों की
नीरस पूजक कर मलता था

बेचैन पड़ी 'बूढ़ी खाला'
बीते जीवन पर सोच रही
चिन्तना मर्म को नोच रही
पहले था ज्ञात हुआ कुछ सुख
पर, अब लगता था जग काला

'चौधरन' दही मथती-मथती
बहुओं को थी फटकार रही
व्यंग्यों की कटु बौछार बही
बहुएँ सब कुछ सह कर, सुनकर
चुप थीं कंडे पथतीं पथतीं

तारों की गति को बना घड़ी
कन्धे पर रख लाठी मोटी
धोती के पल्ले में रोटी
जा रहे गाँव के कई लोग
सब को अपनी चिन्तना पड़ी

कुछ क्षण पीछे ग्रह अस्त हुए
किंचित् रक्तिम आभास हुआ
अम्बर को कुछ उल्लास हुआ
वे विहग उठ खड़े हुए जो कि
रजनी में निद्रा - ग्रस्त हुए

कूएँ पर भीड़ हुई भारी
कन्धों पर खाली धरे घड़े
कितने ही जन हो रहे खड़े
डोलियाँ रिक्त कर रहे पुरुष
रस्सियाँ खींचतीं थी नारी

अवसर अवसर जल भरते थे
करते थे कोई गड़बड़ भी
कोई करता था बड़-बड़ भी
जिनको कारणवश जल्दी थी
उनको कुछ लोग अखरते थे

पहले से कूआँ चलता था
'रग्घू' बैलों को हाँक रहा
हरियाली में मन झाँक रहा
गूँजता गीत था दूर दूर
अन्तर् श्रम-श्रान्त उछलता था

'रामू' टाँके की ओर चला
कर में भैंसे की रस्सी थी
बाँयें कन्धे पर कस्सी थी
'नीरू' सिक्के की डोली ने
पानी को कर डाला गँदला

हाँकता गधे 'काल्लू' कुम्हार
तड़के ही वह उठ जाता था
मिट्टी भर भर कर लाता था
ऊँघते ऊँघते से चलते
गदहे, जिन पर दो गुना भार

बूढ़े करते थे सच्चिन्तन
कुछ पीपल में देते पानी
कुछ भिगो रहे पाला-सानी
कुछ दूध निकाल रहे, कोई
स्त्री पति पर करती थी भन भन

छत्तू का चरवाहा बेटा
जो बकरी-भेड़ चराता था
रोटी में घी भरवाता था
कल मिली रोटियाँ रूखी सी
रूठ कर अतः अब तक लेटा

लो, प्रेमचन्द भी टहल रहा
बहती थी ठण्डी स्वच्छ हवा
सौ सौ रोगों की एक दवा
मन था पंकज सा विकस रहा
यों एकाकीपन बहल रहा

कल्पना-लोक सा प्रात नया
जिसमें चित्रित सा गाँव मधुर
उसके मन को भा रहा प्रचुर
कृषकों के सीधे जीवन पर
उसको आती थी अधिक दया

आनन्दित गंगा का वह तट
गुन गुना रहा था अन्तस्तल
भारत-जनता कितनी निश्छल !
ग्रामीण देश के आत्म-दीप,
भा रहा न शहरों का झंझट

साहित्य भावना का मन्दिर
सब ही भीतर जा सकते हैं
चिन्तन, ध्यायन, गा सकते हैं
वीणा - वादन भी, शंखनाद,
ढोलक-तालों पर नृत्य मदिर

मन्दिर में हो अन्तर् पावन
अभिलाषा हो, संकीर्ण नहीं
आशाएँ हों, पर जीर्ण नहीं
शत-शत, अगणित, निस्सीम द्वार
हो किसी पन्थ से भी धावन

हों प्राण-वायु के लिये अयन
जिनमें से शुद्ध समीर बहे
किञ्चित् न श्वास-प्राचीर रहे
कण्टक-शाखा पर विविध सुमन,
हो सुरभित सर्वाङ्गीण चयन

मन्दिर का कला-ज्वलंत शिखर
नभ के प्राणों को छूता हो
ऊषा की कुंकुम पूता हो
आधार-शिला उसकी धरती
आतप-छाया प्राकृतिक प्रखर

हो चला आज साहित्य विपथ
कर्तव्य भूल कर सोया है
अटकलबाजी में खोया है
जीवन से दूर पलायन में,
गतिशील नहीं है उसका रथ

हो रही 'कला के लिये कला'
कागज की नाव बनाते हैं
अम्बर में उसे चलाते हैं
खो रहे दूर ही दूर जब कि
सीधे पथ पर शुभ दीप जला

सुन्दरतम चटकीली नारी
नयनों को मोहित कर सकती
सौन्दर्य हृदय में भर सकती
पर, वह वन्ध्या तो क्या वन्द्या ?
छिछलापन यदि आकृति प्यारी

वह गर्भवती भी हो, सुन्दर
उसकी आकृति मनमोहक हो
नख-शिख अवरोहारोहक हो
नूतन सर्जन के लिये कुक्षि
हो शान्ति, क्षमा पावन अन्दर

उन्नति के शिव हेमाचल पर
जो कला नहीं ले जा सकती
जीवन में स्थान न पा सकती
वह क्षणिक तृणों की ज्वाला है
आलोक न दे सकती जल कर

जीवन को जो दे शक्ति प्रबल
परिस्थितियों से न रहे तापित
नूतन साहस कर दे स्थापित
जीवन की महा विषमताओं
का पी जाये चुपचाप गरल

अभिनव सौन्दर्य, मनन, चिन्तन
साहित्य, कला की परिभाषा
सत्साहित्यिक की अभिलाषा
सच्चे द्रष्टा की मधु वाणी
करती समाज का शिव सिञ्चन

यदि संस्कृति का न उचित मिश्रण
तो वह साहित्य महा दुर्बल
जीवन को दे न सके सम्बल
नैतिकता - पावनता - अभाव
में जीवित रह न सके लघु क्षण

संस्कृति का क्षेत्र नहीं सीमित
प्रत्येक व्यक्ति की साँसों में
सागर-धरती - आकाशों में
प्रतिपल वह करवट लेती है
जग भर में विकसित पंकज सित

तब तक न प्रगति, उन्नति सम्भव
जब तक साहित्य न हो गतिमय
इन तीनों चीजों का सञ्चय
साहित्य, समाज, सुराजनीति
साहित्य बिना ये दोनों शव

जिसका साहित्य महा सुन्दर
उसका समाज होगा अच्छा
फिर राजनीति निश्चित स्वच्छा
इन तीनों का उद्देश्य एक
उत्पत्ति स्रोत, वह बीज मधुर

इन तीनों का सम्बन्ध अटल
साहित्य परिष्कृति करता है
भावना उच्चतम भरता है
ले जिन्हें मनुज जीता रहता
तीनों का कारण मनुज सबल

जग-मध्य-बिन्दु हैं नारी, नर
नारी का पति के मरने पर
अर्धांग यहाँ जाता है मर
पर, पति पर नियम न यह लागू
रहता उसका अर्धांग अमर ?

स्त्री का कोई व्यक्तित्व नहीं
जो ऐसी बातें करते हैं
वे आडम्बर पर मरते हैं
वे स्वयं महा व्यभिचारी हैं
वासना-भ्रष्ट, न व्रतीत्व कहीं

युग-युग से वातावरण वृहद्
कर दिया गया ऐसा प्रस्तुत
उसका साथी, उसके ही सुत
उसके विरुद्ध हैं, पक्ष-पूर्ण
वह तिरस्कृता, कोई न सुहृद्

आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं उसे
रे, महा गुलामी की बेड़ी
लिपटी सारे चोटी - एड़ी
वह पग-पग पर दयनीय, दास
मिलती न मन्त्रता कहीं उसे

मादक पदार्थ बस मांस-सुरा
इनकी ही जय-जयकार यहाँ
दूषिततम यौन - बहार यहाँ
अभिराम - राष्ट्र-जीवन-स्तर का
होता है सत्यानाश बुरा

अपना उद्धार करो नारी!
कीचड़ में तुम धँसती आती
जालों में ही फँसती जाती
तोड़ो, फोड़ो, स्तर पर आओ!
स्वाधीन विहार करो प्यारी!

पागल समाज की व्यर्थ रीत
भोगे समाज यह ही दूषित
मैं नहीं बनूँ मिथ्या - भूषित
गठ-बन्धन या कि बलात्कार?
प्राणों की यह तो नहीं प्रीत

पन्ना कोई उसके कर में
जिसको वह पढ़ता जाता था
उल्लास बिखरता आता था
उसका निश्चय था 'शिवरानी'
विधवा को लाऊँगा घर में

विधवा-विवाह कुछ पाप नहीं
मैं शिक्षित होकर क्यों न करूँ?
अन्धे समाज से मैं न डरूँ!
यह तो मानवता की सेवा
मुझको कुछ पश्चात्ताप नहीं

आठवाँ सर्ग

'खून' 'खून' का कोलाहल है
तड़प रही हैं अगणित लाश
'जलियाँ वाला बाग' रो रहा
रक्त - रञ्जिता कोमल घास

वक्षस्थल को चीर - फाड़ कर
गोली भेद गयी प्राचीर
भारतमाता आहत, बेसुध
अस्त-व्यस्त है उसका चीर

मा - बहिनों की लाज गयी लुट
शिशु मुर्झाये ज्यों मृदु-पात
हिंसक इन खूँखार भेड़ियों
की कितनी पैशाचिक घात ?

हुआ देश का छिन्न-भिन्न मन
यह परदेशी का अन्याय
कोटि-कोटि मानव पशु की ज्यों
मौन सह रहे हैं क्यों हाय ?

बोलो, तुम साहित्यकार हो
देखोगे यों ही चुपचाप
आज धरा पर नर-राक्षस जब
करते क्रूर भयंकर पाप ?

नहीं, लेखनी नहीं झुकेगी
जो पापी के लिये कृपाण
दुर्बल, निस्सहाय मानव में
फूँकेगी चिर नूतन प्राण

मानव को ललकार रहा है
सत्ता का निर्दय अभिमान
जाग, जाग, अँगड़ाई ले उठ !
लेखक, कहाँ तुम्हारा ध्यान ?

मँहगा है अधिकार बड़ा ही
उसके लिये करो बलिदान !
ठीक नहीं याचना दया की
लो अपना पौरुष पहिचान !

है 'दधीचि' की आवश्यकता
जो अपना दे त्याग शरीर
'पन्ना' सी कर्तव्य-भावना
पुत्र मरे, पर हो न अधीर

कोटि - कोटि कण्ठों का गर्जन
दानवता को दे ललकार
कोटि-कोटि गतिशील चरण बढ़
धरती का दें भार उतार

बन्द करो बस गीत विरह के!
छोड़ो तन्त्री का उन्माद!
जन जन ले गाण्डीव हाथ में
और करो तुम शंख-निनाद!

पराधीनता महापाप है
लूट लिया जाता सम्मान
हँसने, आने - जाने पर भी
रक्खा जाता कड़ा विधान

गगनांगण में उड़ रे, पंछी,
अब पिंजड़े के पास न जा तू!

तेरा हो प्रत्येक विटप घर
किसलय-सुमनों से परिचय कर
फुदक फुदककर, विहँस विहँसकर
कोमल अभिनव नीड़ बना तू!

अब पिंजड़े के पास न जा तू!

तेरा मन, तेरी ही आशा
तेरा तन, तेरी अभिलाषा
कारा दे न सके कुछ बाधा
ऐसा कोई गायन गा तू!

अब पिंजड़े के पास न जा तू!

पत्ते - पत्ते पर स्वर-लहरी
गूँज उठे गायन की गहरी
विहँस विहँस उड़ने - गाने का
ध्येय विमल यह भूल न जा तू!

आज शान्ति के लिये क्रान्ति का
करना है भीषण आह्वान
क्षीरोदधि के अन्तस्तल में
उठे महा प्लावन - तूफ़ान

अमृत का चिन्तन हो पीछे
पहले 'शंकर' का विष-पान
ले अँगड़ाई जीवन जैसे
'आञ्जनेय' की महा उड़ान

जीवन का सम्मान गया तो
और रह गया फिर क्या शेष ?
'भीमों' को ललकार रहे हैं
आज पुनः द्रुपदा के केश

अरे, आज फिर दुःशासन ने
जननी की साड़ी ली खींच
पुनः परायी ही धरती पर
मत्त बना दुर्योधन नीच

काँप उठा धरती का अन्तर्
कुन्ती-पुत्रो, तजो विषाद !
सूचिकाग्र धरती को ले कर
पुनः उठ खड़ा हुआ विवाद !

सदा सत्य की जय होती है
चक्र सुदर्शन की खर धार
एक बार हो पुनः दस्यु के
गर्वोन्नत कण्ठों के पार

व्याप्त हो गयी महा वेदना
अंतस्तल में घोर अशान्त
निरपराध जनता पर गोली ?
चिन्तन भेद रहा उर-प्रान्त

'असहयोग' के आन्दोलन में
लिया नौकरी से मुख मोड़
बातों ही बातों में मासिक
दिये सवा सौ रुपये छोड़

लोगों ने रोका भी, देखो,
ठीक नहीं सरकार-विरोध
किन्तु, विदेशी की सत्ता की
सतत रहा था वह जड़ खोद

'सोजेवतन' जब्त कर ली थी
आगे आज्ञा मिली कठोर
जनता का सच्चा लेखक वह
लिखने लगा वेग से और

चलती कलम भ्रष्ट शोषण पर
जैसे धरती-बीच कुदाल
वह मजदूर कलम का, भावी
युग की विपदाओं की ढाल

देना चाहा 'परदेशी' ने
दुर्लभ 'सर' का दिव्य खिताब
किन्तु 'विभीषण' नहीं बना वह
ठुकरा दिया व्यक्तिगत लाभ

'हंस' 'जागरण' पत्र प्रकाशित
किये स्वयं, की ज्योति विकीर्ण
घर के पैसे लगा-लगा कर
जड़ताएँ खोयीं संकीर्ण

कुर्ता फटा, चप्पलें टूटी
दुर्बल लेखक मुक्त 'प्रवीण'
दुग्ध - शर्करा - रिक्त चाय ही
पी लेता साहित्य - धुरीण

हीन राष्ट्र के कृश प्राणों में
भरने पूर्ण आत्म - सम्मान
फिल्मों के दूषित जीवन से
भी की थी उसने पहिचान

दुखियों का रक्षक, कृषकों का
भाग्य - विधाता, सत्य विराट्
मजदूरों का बन्धु, विश्व का
सत्साहित्यकार सम्राट्

पड़ा हुआ यों रुग्ण खाट पर
सोच रहा प्रतिपल अविश्रान्त
नहीं स्वयं की चिन्ता कुछ भी
पर, जगती का दैन्य दुखान्त

अन्तरिक्ष में चिड़ियों की ज्यों
घरर घरर उड़ चले विमान
बीहड़ विपिनों के अंतर में
रेलों का हो रहा वितान

भीतर ही भीतर अचलों के
कोसों तक चलती है ट्रेन
देवदारु की गयीं लकड़ियाँ
हुए आज कर-कर में 'पेन'

भुर्जपत्र बन गया मनुज के
गत शैशव का भाव-प्रतीक
तृण-उल्का में नहीं आज
खींची जाती कविता की लीक

अग्नि-शिखा निर्धूम बन गयी
अरणी, चकमक का संसार
शत, सहस्र वर्षों के तट पर
झाँक रहा उन्मन उस पर

आज सुलभ है दीप-शलाका
घर-घर पैसे की दस-बीस
अग्नि देव के प्रति आवाहन
करते अब न अपार ऋषीश

इन्द्र देव के लिए हवन की
चिन्ताएँ अब हैं अज्ञान
सोम, वरुण, सविता, देवों के
काम न कुछ आते अब गान

आज ग्रीष्म, वर्षा, हिम ऋतु से
नहीं यहाँ मानव भय-भीत
घोर कड़कड़ाहट, विद्युत् में
शक्ति आसुरी अब न प्रतीत

संध्या के पीछे रजनी में
भूतों-प्रेतों के उत्पात
आज कल्पना-अन्तरिक्ष में
है मिथ्या-प्रतीति की बात

देवाराधन-छत - ऊपर से
'नील' नदी की निश्चित बाढ़
कोई एकाकी न देखता
आज सभी विद्वान् प्रगाढ़

तिलक - छाप, यज्ञोपवीत अब
नहीं स्वर्ग पाने की राह
अश्वमेध, नरमेध यज्ञ अब
बुद्धि - हीनता महा अथाह

सात समुद्रों का मन्थन कर
पार पहुँच जाते हैं पोत
सागर - पट के ये चलते घर
सुविधाओं से ओतप्रोत

जल के भीतर ही पनडुबियाँ
कूएँ में ज्यों घुसें कपोत
क्रूर जलचरों के दाँतों को
क्षण में देता चीर करोत

वरुणों का पाताल लोक अब
नहीं रह गया महा रहस्य
आने - जाने के सब साधन
अब इच्छित मानव के वश्य

नदियाँ पुल के नीचे बहतीं
पुल पर होता यानायान
उन आवागमनों के ऊपर
ट्रेन मचलती विस्तृतगात

मानव - कार्य - कलाप न रुकते
गरमी, जाड़ा, हो बरसात
चाहे पुल के आर-पार तक
नाच रही हो झंझावात

पुल न किसी के ऊपर आश्रित
स्वतः स्वयं में ही वे पूर्ण
लहर, ज्वार - भाटे सागर के
कर पाते कुछ कभी न चूर्ण

तार और टेलीफोनों के
देशान्तर तक विस्तृत तार
धरती के ओरों - छोरों से
होता आज विमर्श, विचार

ऊँचे - नीचे बने राज - पथ
चतुश्चक्रिका और द्विचक्र
यत्र तत्र द्रुतगति से सरपट
दौड़ें जैसे जल में नक्र

जल-नाली, आकाश-वाणियों
विद्युत् का घर - घर विस्तार
महा महा यन्त्रालय, कागज
वसन, शर्करा की भर - मार

वरुण आज भरता है पानी
इन्द्र बुझाता इच्छित प्यास
वायु सदागति पंखा झलती
सूना आज नहीं आकाश

विद्युत् - बाला चाय बनाती
आवाहन करता है सोम
मानव को आहार बना कर
देते रवि-किरणों के रोम

उपनयनों से दूर देखता
दूर - दूर की सुनता बात
जगत्-पार तक वाणी विस्तृत
शत योजन बातों ही बात

पंछी सा उड़ता है नभ में
मछली की ज्यों नीर - विहार
करता हरिण-शशक सा धावन
दशों दिशाओं में उस पार

अंतर् का रहस्य कर अंकित
लेता खींच हिमालय-चित्र
चल - चित्रों का क्षेत्र असीमित
आज मनुज की प्रगति विचित्र

पर, कृत्रिम मानव का जीवन
भूल रहा नैसर्गिक स्नेह
उसकी कृत्रिमता - अभाव में
सञ्जीवित रह सके न देह

तन पतला, मस्तिष्क बड़ा है
रह न गया अब भाव - विभोर
वृक्ष-लता-प्राकृतिक स्थलों पर
चिमनी की धूआँ का जोर

उसके अन्तराल - मस्तक का
सामञ्जस्य न पूत, समान
अन्न, वसन की ही चिन्ता में
भूले गीत, कला, आख्यान

रह न गया उत्साह आन्तरिक
नीरस जीवन पर शत भार
रिक्शों को ढ़ोते ढ़ोते वह
शून्य बन गया, है निस्सार

टूटे - फूटे खपरेलों में
दीर्घ - काय - यन्त्रालय - पास
धूम - कोयलों की छाया में
करते अगणित लोग निवास

नहीं प्रसव - वेला में श्रमिका
पाती आवश्यक अवकाश
वेतन कटता, भूखी रहती
बालक कर पाते न विकास

यन्त्रों की मारों से लँगड़े
लूले, कटे हुए ले हाथ
नगर - नगर के राज - पथों पर
मानव रोते फिरें अनाथ

एक वर्ग ऐसा है जिसकी
माया - ममता का विस्तार
और दूसरा वर्ग उपेक्षित
जीवन बुद्‌बुद्‌ का संसार

'लेखक-संघ' किया संस्थापित
उनका करने को उद्धार
चाहा करता सभी जनपदों
की भाषाओं का विस्तार

जीवनभर कर्तव्य न भूला
कर्म, भावना लिये उदार
चिन्तन में, कल्पना, कला में
भाषा में कर गया सुधार

साँझ-सबेरे लिये अङ्क में
रहता मृत - भगिनी के बाल
दुर्लभ यौवन अपना सारा
दिया कथा, गल्पों में ढाल

सन् "नव दस छत्तीस" और था
'अक्टूबर' का पावन मास
जिसके अञ्चल में निःस्पन्दित
उस 'अतिमानव' का उच्छ्‌वास

विश्वभारती का वह गायक
पूरा अभी कहाँ गा पाया ?
जन-जागृति के नये क्षितिज पर
मानवता का दीप जलाया

इतिश्रीः

लेखक की अन्य काव्य-कृतियाँ और कुछ सम्मतियाँ

कमला नेहरू

'कमला' नामक काव्य-खण्ड पर बधाई। काव्य में आपने सराहनीय कवित्व और रचना-चातुर्य प्रदर्शित किया है। 'आपका प्रयास लोकप्रिय होगा'।

—जवाहरलाल नेहरू

रचना मुझे अच्छी लगी। इसका आदर होगा।

—'निराला'

द्विरेफ जी ने श्रीमती कमला नेहरूजी के देहावसान के करुण अवसाद-पूर्ण अवसर पर पंडितजी के हृदय के भावोद्वेग को वाणी देने का प्रयत्न किया है और उनके दुख ने नारी-जीवन की समस्याओं पर युग के अनुरूप विचार विमर्श कर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। द्विरेफजी की वाणी में प्रवाह तथा भावुकता की पुट है। उन्होंने प्रस्तुत काव्य द्वारा भारतीय स्वतंत्रता के आलोक की निरुपम शिखा श्रीमती कमला नेहरू को अपने कवि-हृदय की श्रद्धाञ्जलि भेंट की हैं।...... ..छन्दों के वातायन द्वारा कवि के हृदय की मर्मस्पर्शी झाँकी भी मिल सकेगी।

— सुमित्रानन्दन पन्त

आपकी पुस्तिका अच्छी है।

—कन्हैयालाल मा० मुन्शी

'रचना' में दो महान् हृदयो की गाथा और नारी-जीवन की पुनीत एवं उदात्त प्रेरणा का स्पन्दन है। कवि ने जीवन के शाश्वतचिन्हों को पहिचान ने की क्षमता प्रकट की है। उसकी वाणी में प्रवाह और प्रभावोत्पादक शक्ति है। जीवन के भीषण हाहाकार में उसने सत्य, शिव और सुन्दर की स्थापना की है। 'कमला' का चरित्र "प्रसाद" के उदात्त नारी-पात्रों का स्मरण दिलाता है। कवि ने कमला नेहरू के माध्यम द्वारा भारतीय नारी के प्रति जो श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, वह केवल उसी की नहीं, प्रत्युत प्रत्येक भारतीय की है। भाषा और छन्द के सौन्दर्य ने मणि-काञ्चन-योग उपस्थित किया है'।

—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

मरु के टीले

आपकी कविता-पुस्तक मैं चाव से पढ़ गया। सौन्दर्य सीमित नहीं है, वह सब कहीं है। कवि-दृष्टि चाहिए जो उसे उद्घटित कर दिखाए, आपकी लेखनी में यह कौशल है। मरु के टीलों में आपने नन्दन की शोभा भर पाई है। उसके लिए मेरी बधाई स्वीकार कीजिए।

—जैनेन्द्र कुमार

जैसे मैं विन्ध्य के पहाड़ों, झरनो, झाड़ो, झंखाड़ो आदि का उपासक हूँ, वैसे ही आप 'मरु के टीलों के, किन्तु आपमें और मुझ में दो बड़े अन्तर हैं। एक तो यह कि मैं कवि नहीं, और आप कवि हैं, दूसरा, राजस्थान की धरती ने अधिक त्याग और बलिदान देखे हैं।

—वृन्दावन लाल वर्मा

रचना सफल और प्रशंस्य है। उसकी पंक्तियों में दर्द और गहराई है।

—राय कृष्णदास

कवि के भाव-रस ने टीलों को विचार-भाव-स्पन्दन-युक्त प्राणान्वित किया है।

—डा० सत्येन्द्र

मरु के टीलों में की आपकी काव्य-प्रतिभा की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि चाहता हूँ। राजस्थान की उदात्त सेवा का आपका संकल्प सफल है।

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

कवि की आत्मीयता का क्षेत्र विशाल है, उसका हृदय उदार है।······ महाकवि कालिदास, इकबाल की परम्परा के अनुसार द्विरेफजी के ये शीर्षक कितने सुन्दर हैं—मैं टीलों का टीले मेरे, ये मेरे जीवन के साथी।

स्व०—भगवानदास केला

सॉय,सॉय करते मध्यान्ह में टीलों का स्वाभाविक सुन्दर चित्र जो सवेदन-शील भाषा में आपने खींचा है वह वस्तुतः हिन्दी-साहित्य को आपकी एक नई देन है।

— नरोत्तमलाल जोशी

'हिन्दी में आज अनेक प्रकार का प्रकृति-चित्रण देखने को मिलता है, पर द्विरेफ जी का प्रकृति-चित्रण नितान्त विरल है'।

—डा० कन्हैयालाल सहल

इससे प्रकृति-चित्रण में एक नवीन दिशा देखने को मिलती है। आपकी लेखनी में शक्ति है। आपका भविष्य उज्ज्वल है।

—डा० रामचरण महेन्द्र

धूल के फूल

कवि की भाषा निखरी हुई है। मरु-प्रदेश में रहने वाले इस कवि के इन गीतों में रस है।

—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली।

श्री द्विरेफ एक ऐसे कवि हैं जो मरु धरा के जर्रे जर्रे को प्यार करते हैं। उसके कण-कण में उन्होने असीम माधुरी तथा अनुपम सौन्दर्य का दर्शन किया है। इसीलिए इस शुष्क सैकत प्रदेश के निर्जन टीले तथा उसकी कंटीली झाड़ियाँ भी उनके गीतों का शृंगार बन चुकी हैं।.......प्रकृति के भिन्न-भिन्न पदार्थों पर चाँदनी भाँति-भाँति के चित्र प्रस्तुत कर रही है। कवि ने इनको अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ देखा है। इसी प्रकार प्रातः और विभावरी के दृश्य मनोरम हैं। इन गीतों से कवि की प्रतिभा का पता चलता है। भाषा भी अधिक मँजी हुई है।

—अमृत पत्रिका, इलाहाबाद।

कवि के हृदय का सरल भाव प्रत्येक पंक्ति में मुखरित होता है। भाषा, भाव तथा छन्द का स्वरूप सरस, स्वाभाविक तथा वास्तविक है। मरु-सुषमा का सरस और सुन्दर चित्रण कवि ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है। स्थल स्थल पर मरुभूमि की छटाएँ सजीव हो आयीं हैं। अपनी कविताओं में द्विरेफजी ने वास्तव में बालू से तेल निकालने का प्रयास किया है और उसमें वे सफल रहे हैं।

—सन्मार्ग, कलकत्ता।

'मरु के टीले' में हमें कवि की जिस प्रतिभा का आभास मिला था 'धूल के फूल' में वह और प्रस्फुटित हुई है, विकसित हुई है। कवि की कल्पना मुखरित हो उठी है।...... संग्रह सुन्दर है और कवि की प्रतिष्ठा निस्सन्देह बढ़ायेगा।

—नवभारत, नागपुर।

कवि ने काल्पनिकता को वास्तविकता में ढाल कर जो सृष्टि की है, वह अति सुलभ उपादेय बन गई है। कवि की सात्विक उत्प्रेक्षाएँ भी समीचीन हैं।

—लोकवाणी, जयपुर।

जो साधारण जन की दृष्टि में उपेक्षा की वस्तु है, नीरस है, उसी निर्जीव तथा नीरस मरुभूमि में कवि सजीवता तथा चमत्कारिता के दर्शन करता है।... कविताएँ रोचक हैं।

—कल्पना, हैदराबाद।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रूक्ष प्रकृति में भी जिस नैसर्गिक सरसता का संकेत किया है, हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में सम्भवतः 'द्विरेफ जी' ने ही अपनी रचनाओं में उसका सजीव एवं मार्मिक चित्रण और प्राणोन्मेष किया है।

[भूमिका से] - शान्तिप्रिय द्विवेदी।

उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत

मीराँ

(महाकाव्य)

"ऊपर की वस्तु-योजना से यह स्पष्ट भासित होता है कि 'द्विरेफ' जी ने 'मीराँ' महाकाव्य में जीवन की विस्तृत भूमियों को स्पर्श करने की चेष्टा की है। राजस्थान की तत्कालीन समाज-व्यवस्था की अच्छी झलक पुस्तक पढ़ कर मिल जाती है। मीराँ के शैशव के संस्कारों का क्रम-विकास मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रदर्शित किया गया है, जिससे उसकी चरित्र-सृष्टि में बहुत कुछ मार्मिकता आ गयी है।

शैशवकालीन क्रीड़ा-कौतुक, भाई-बहन का सौहार्द, माता-पिता की अभिलाषा और चिन्ता, वृद्ध दूदाजी का वात्सल्य, सहेलियों का मनोविनोद, तारुण्य की मनोदशा, विदाई का अवसाद, मिलन का औत्सुक्य, रागरंग, नखशिख, आदि के वर्णनों के साथ उद्दाम लालसा और प्रशान्त नियंत्रण, समाज की दारुण निष्क्रियता और व्यक्ति की अदम्य कर्मण्यता आदि के के द्वन्द्व भी बड़े सुन्दर ढंग से दिखाये गये हैं।

काव्य में आये हुए गीतों का सौन्दर्य उल्लेखनीय है, किन्तु गीतों के सौन्दर्य से भी अधिक कवि का सुन्दरतर प्रकृति-वर्णन है। विशेषकर राजस्थान की वर्षा का वर्णन आन्तरिक आह्लाद से किया है।

...... रूप-वर्णन के स्थल भी अच्छे हैं, यद्यपि वे आवश्यकता से अधिक उत्तेजक हो गये हैं। उनसे अधिक प्रभावशाली वे चित्र हैं, जिनमें देश-काल की स्थिति का यथार्थवादी उल्लेख है किन्तु उनसे भी अधिक मार्मिक वे उत्साह-पूर्ण वाक्य हैं, जो किसी की ओर से या मीराँ के मुख से कहे जा कर काव्यगत जीवन-दर्शन का निर्देश करते हैं—

........ऐसी ही भावोत्तेजक पंक्तियों में 'मीराँ : महाकाव्य' की आत्मा बोल उठी है। मुझे इस काव्य में नई सूझ और प्रतिभा के दर्शन हुए। रचना निश्चय ही प्रथम श्रेणी की है।

[भूमिका से]—नन्ददुलारे वाजपेयी

बालुका के प्राण

मरुभूमि की अन्तर्निगूढ़ सरसता को आपने बहुत ही सफलता के साथ चित्रित किया है। जो वृक्ष, पौधे, पक्षी और पशु ऊपर से नीरस और खूँसट दिखते हैं, उनके अन्तर-तर में कितनी सहृदयता और प्राणवत्ता है, वह आप की भेदिनी दृष्टि ने बहुत ही सफलता के साथ खोज निकाला है। विधाता ने आप को अन्तर्दृष्टि दी है। इस पुस्तक में संगृहीत रचनाओं में उसका बहुत ही स्पष्ट परिचय मिलता है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

अपने काव्य में स्थानीयता को स्थान देना एक प्रतिभाशाली कवि के अनुरूप है। आप की लेखनी हिन्दी-कविता में एक नया दिशा-निदर्शन करे।

—राहुल सांकृत्यायन

कवि अभी नवयुवक हैं। पर, उनकी भाषा, शैली, भावना और विचार-अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। वे सिद्ध-हस्त कवि के रूप मे हमारे सम्मुख आए हैं। 'बालुका के प्राण' के विषय मरुभूमि और उसके जीव-जन्तु पेड़, पौधे, पशु पक्षी आदि हैं। इन विषयों को भावनात्मक स्वरूप देने में कवि सफल हुए हैं। उनकी इन कविताओ में मरुभूमि मानो लहलहा उठी है। परमेश्वर जी अपने अनूठे ढंग से चित्रो का – मरुभूमि की अटपटी, विकराल प्यासी, रसभीनी विचित्रताओ का—चित्रण करते हैं। उनमें सह-अनुभूति, गहराई और भावप्रवणता है। इन कविताओं में मुझे कवि के सफल भविष्य के दर्शन होते हैं।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

कवि का भविष्य, निस्सन्देह आशापूर्ण है। उनकी रचनाएँ सुन्दर हैं, इसका कहना ही क्या!

—मैथिलीशरण गुप्त

वलजा

[कविता-संग्रह]

प्रस्तुत संग्रह के अधिकांश गीत धर्मयुग (बंबई) में समय समय पर प्रकाशित हुए हैं और प्रतिभा (नागपुर) समाज (दिल्ली) सुप्रभात (कलकत्ता) रेणुका (बिहार) युग-प्रभात (केरल) आदि आदि में भी निकले हैं। यह सौभाग्य का विषय है कि जहाँ उत्कृष्ट पत्र-पत्रिकाओं में इन रचनाओं ने महत्त्वपूर्ण प्रकाशन-स्थान प्राप्त किया वहाँ प्रमुख साहित्यकारों और रसज्ञ पाठकों की स्नेह-सहानुभूति भी अपनी ओर आकर्षित की। 'आकाशवाणी' पर भी अनेक कविताएँ पठित हैं।